निवेदन

हमारे परम सौभाग्य से श्री १०८ आचार्य देशभू
महाराज का चातुर्मास सन् १९५२ ई० को बाराबङ्की में
उस समय श्री महाराज जी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद
भाषा से हिन्दी भाषा में करना प्रारम्भ किया। प्राणी
मोक्ष मार्ग सुगम बनाने वाले इस ग्रन्थ को जानकर
बहिनों की राय हुई कि यह ग्रन्थ छपना चाहिये। ऐसा
करके हमने अपनी सभी बहिनों से इसके विषय में मंत्रण
मंत्रणा करते ही सभी बहिनों ने सोत्साह पूर्वक इस
प्रकाशित करने का समर्थन किया। फिर क्या देरी थ
कार्य तत्क्षण प्रारम्भ हो गया और पूज्य पाद श्री आच
की अनुकम्पा से सानन्द पूर्वक पूर्ण होकर आप लोगों
में आ गया।

हम ऐसी आशा करती हैं कि हमारे समस्त धर्म
बहिनें इस महान धर्मग्रन्थ को रुचि पूर्वक मनन करके
उठायेंगे, क्योंकि यह आध्यात्मिक विषय है तथा
करने में अत्यन्त रोचक है।

प्रकाशकः—

जैन महिला समाज, बाराब

॥ श्री वीतरागायनमः ॥

सुजनोत्तं वोप्पण कवि विरचित

श्री निर्वाण लक्ष्मी पति स्तुति

कानड़ी काव्य का

श्री १०८ श्रा० देशभूषण मुनि महाराज

द्वारा

हिन्दी अनुवाद

प्रकाशक–दिगम्बर जैन महिला समाज, बारावङ्की

प्रथमवार १००० | मूल्यः— सदुपयोग | सितम्बर १९५२ ई०

प्रकाशकः—
जैन महिला समाज
बाराबङ्की

सितम्बर सन् १९५२ ई०
(प्रथम संस्करण १०००)

मुद्रकः—
किशोरीलाल जैन,
अध्यक्ष—जनता प्रेस,
बाराबङ्की

॥ दो शब्द ॥

सुजनोत्तं वोप्पन नाम के कवि ने कानड़ी में बहुत सुन्दर ढँग से रस भरित अध्यात्म रस से पूर्ण इस रसीले काव्य की श्री निर्वाण लक्ष्मी पति स्तुति रचना की थी।

जिसको (आचार्य श्री १०८ देशभूषणजी महाराज) हमने भव्य जीवों के कल्याणार्थ अनुवाद तथा विवेचन किया है। यह ग्रन्थ अध्यात्म होने के कारण सभी को अत्यन्त रुचिकर हो गया। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति पढ़कर यहाँ की जैन महिला समाज का विचार दश लक्षण धर्म के शुभ अवसर पर शीघ्र छपवाकर वांटा जाय। परन्तु कारण वशात् समय पर छपने में विलम्ब हो गया इसलिये अब यह ग्रन्थ तैयार होकर आपके हाथ में आ रहा है इसको मनन कर भाई और वहिनें पढ़कर धर्मलाभ व अपनी आत्म विशुद्धि करलेवें यही हमारा शुभाशीर्वाद है।

आचार्य. देशभूषण महाराज

॥ विषय-सूची ॥

क्रम संख्या | पृष्ठ संख्या

क्रम संख्या

क्रम संख्या　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ संख्या

आत्म भावनाष्टक

मालती छंद

अनुपम गुणकोशं च्छिन्न लोभोदिपाशं ।
तनु भुवन समानं केवल ज्ञानमानं ॥
विनमदमर वृंदं सच्चिदानन्द कंदं ।
जिन वल समतत्वं भावयाम्यातमतत्वं ॥ १ ॥

रहित सकलमोहं मुक्त संसार दाहं ।
प्रहत वितत मार्गं क्षीण नोकर्म मार्गं ॥
सहज चरणसारं जन्म वाराशि पारं ।
स्वहित परिणतत्वं भावयाम्यातम तत्वं ॥ २ ॥

अमृत सुखमनंतं निश्चल मुक्ति कांतं ।
शमित खलकषायं लब्ध मुक्त्यभ्युपायं ॥
दमित करणदंति प्राप्त दुःकर्मशांति ।
भ्रमण विरहितत्वं भावयाम्यातम तत्वं ॥ ३ ॥

अकुटिल गति युक्तं भाव कर्मातिरिक्तं ।
सकल विमल बोधं ध्वस्त संसार बाधं ॥
प्रकटित निज धर्मं नित्य चैतन्य शर्मं ।
विकृति विरहितत्वं भावयाम्यातमतत्वं ॥ ४ ॥

प्रवर गुण कदंबं द्रव्य कर्मादिशंबं ।
भववननिधिपोतं शुद्ध चित्तस्वभावं ॥
शिवसुखसु चरित्रं घातिवल्लील वित्रं ।
नव मर सकतत्वं भावयाम्यातम तत्वं ॥ ५ ॥

स्मर कमल शशांकं शुष्क दुष्कर्म पंकं ।

करतिमिर भानुं मुक्ति शैलेंद्र सानुं ॥
स्थिरतर सुख रूपं नष्ट कर्मोग्र तापं ।
विरहित पर तत्वं भावयाम्यात्म तत्वं ॥ ६ ॥
अजरममर मेकं विश्व लोकावलोकं ।
निजरुचि मणिदीपं शांत कर्माग्नि तापं ॥
सुजन जैनवसंतं मोक्षलक्ष्मी निकेतं ।
त्रिजगति परतत्वं भावयाम्यात्म तत्वं ॥ ७ ॥
त्रिदशनुत मनिंद्यं जैन योगींद्र वंद्यं ।
मधुरयमल दूरं शाश्वतानंद पूरं ॥
चिदमल गुण मूर्तिं बालचंद्रोरु कीर्तिं ।
विदित सकल तत्वं भावयाम्यात्म तत्वं ॥ ८ ॥
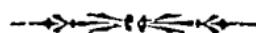
श्री निर्वाण लक्ष्मी पति स्तुति
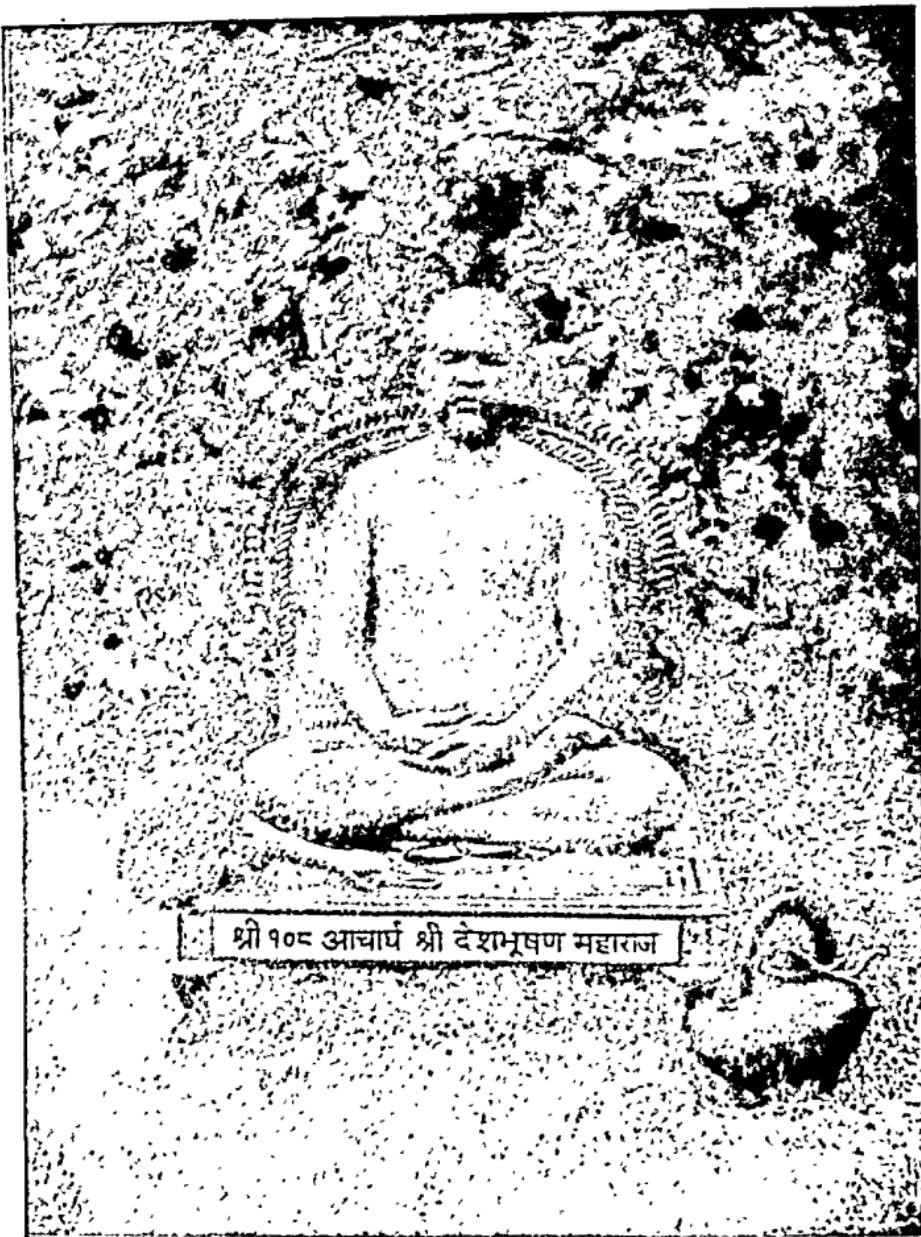
श्री १०८ आचार्य श्री देश भूषण जी मुनि महाराज

॥ श्रीमहावीरायनमः ॥

सुजनोत्तं वोप्पण कवि विरचित

श्री निर्वाण लक्ष्मी पति स्तुति

कानड़ी काव्य का

श्री १०८ आचार्य देशभूषण मुनि महाराज

द्वारा

हिन्दी अनुवाद विवेचन सहित

स्व पर ज्ञान बिना बाह्य संपत्ति मनुष्य को दुःखदाई है।

श्रीयुं निर्मलवंशमुं विभूतेयुं शास्त्रार्थ वेदित्वमुं ।
का यायुस्थिरभावमुं मनुजगा वंगा दोडं मत्तु पा ॥
देयं हेयमिदेंदु तांस्वपर तत्वातत्वमुँ काणदं ।
दायेल्लं विफलंदलें दरिपिदै निर्वाण लक्ष्मी पती ! ॥१॥

मोक्ष लक्ष्मीके अधिपति हे अरहंत भगवान ! किसी प्राणी को जब तक अपने स्व स्वरूप व आमेत्तर स्वरूप का तथा अन्य

स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा तब तक संपत्ति, उत्तम कुल, ख्याति, लाभ, बल, आयु, शास्त्र ज्ञान, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, सुन्दर शरीर, अनेक भोगोपयोग सामग्री इत्यादि बाहरी सामग्री में स्थिर होना ममत्व बुद्धि रखना उचित है। स्व पर ज्ञान के अनंतर यह सभी ऊपरी वस्तु हेय जानकर छोड़ना ज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीव को उचित है। परन्तु स्व पर ज्ञान के बिना प्राणी को यह सारी वस्तु तथा संपत्ति सुखकारी प्रतीत होते हुये भी उनके लिये निष्फल तथा दुखदाई हैं। इस प्रकार भव्यात्मा, को समझाया है।

भावार्थ—जब तक मनुष्य को स्व और पर का ज्ञान प्राप्त न हो तब तक स्त्री, पुत्र, धन धान्य, कुटुम्ब, महल मकान, जमीन, सुन्दर शरीर, आयु, कुल, वंश-जाति, ख्याति मद, अहंकार इत्यादि पर प्रेम करना व अपना मानकर स्थिर बुद्धि रखना योग्य है। स्व स्वरूप भेद विज्ञान के द्वारा स्व पर का ज्ञान हो तब उसको बाहरी मानकर बुद्धिमान को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि जितनी भी बाहरी संपत्ति है यह संपत्ति अनादि काल से अनेक बार भोगी हुई और छोड़ी हुई है। फिर भी यह जीव इन्द्रिय जन्य सुख के अधीन होकर उसी लालच को इच्छा से धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थ के द्वारा पुण्य संचय करते हुये पुण्यानुबन्ध पुण्य से भोगोपभोग इन्द्रिय सुखों को प्राप्त किया। पुनः पुण्यानु बन्ध पुण्य के द्वारा देव पद प्राप्त कर अनेक प्रकार की मनोहर देवांगनाओं के साथ आनन्द पूर्वक मन मानी क्रीड़ा किया और बिना परिश्रम के कण्ठ से झरने वाले अमृत का आस्वादन

करते हुये जठराग्नि को वार वार शांत किया, तथा मन माना अनन्त काल तक स्वर्गीय भोग संपत्ति का सुख अनुभव कर अन्तमें वहां की आयु को समाप्त कर मनुष्य गती का सहारा लिया और वहां की मनुष्य स्त्री पुत्र धन धान्य अनेक महल मकान कुटुम्ब इत्यादि में मोहित होकर ममकार अहंकार द्वारा वार २ जैसे मकड़ी अपने मुंह से निकले हुये जाल के तंतु से आप ही बांध कर अपने जाल में आप ही फंस कर मर जाती है उसी प्रकार यह जीवात्मा चारों गती में अनेक वार भ्रमण करते हुये मोह जाल में वार वार फंस कर मर जाते हैं। फिरभी इनकी आशा रूपी गड्ढा न भरने से अत्यन्त दुःखी ही रहते हैं परंतु सुखका लेश अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, जैसे अग्नि में ईंधन डालते जाय वैसे ही अग्नि की ज्वाला वढती जाय उसी प्रकार पांचों इन्द्रिय रूपी अग्नि में अनेक वाह्य वस्तु सुख सामग्री मिलने से तृष्णाग्नि वढ़ती ही है और शांति के वदले अशांति मिलती है।

इन सभी दुःखों का मूल कारण अनादि कालीन अविद्या ही है। इसलिये हे जीवात्मन् ! तू अविद्या रूपी मोहमें व्यामोहित होकर संसार रूपी महा भयानक भव अटवीमें यत्र तत्र भ्रमण कर रहे हैं।

हुंफट् कार वषट् पुरः सरमहामंत्रौः परानद्भुतै ।
भूतोत्यज्वरशाकिनी ग्रह हता नुन्मोदयन् तुष्यसि ॥
आत्मानं पुनरुध्दत स्फुरदहंकार ग्रहोल्लंघितं ।
नैवौल्लंगयितुं दधासि हृदये सम्यक् वीजाक्षरं ॥

अर्थ—आत्मन्! जो जीव भूत पिशाच आदि से उत्पन्न हुये ज्वर से ग्रस्त है जिनके ऊपर शाकिनी डाकिनी ग्रह आदि का पूरा पूरा प्रकोप है उन्हें तू हूं फट्कार और वषट् आदि महा मंत्रों से आनन्दित करता हुआ तृप्त करता है। अपने महा मंत्रों के बल से उनके भूत अनादि से उत्पन्न विकारों को सर्वथा नाश कर देता है, परन्तु न मालूम उद्धत् और प्रचंड अहंकार रूपी ग्रह से ग्रस्त अपने आत्म को वश करने के लिये तू ध्यानाग्निरूपी ह्रींबीजाक्षर का महा पवित्र मंत्र को हृदय में क्यों धारण नहीं करता?

भावार्थ—जब तक इस आत्मा पर अहंकार रूप ग्रहका प्रकोप रहेगा तब तक यह आत्मा अपने आनन्दमय स्वस्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता इसलिये हे आत्मन्! तू ऐसे परम पवित्र बीजाक्षर महामंत्र का आराधन कर, जिससे यह तेरा अहंकार ग्रह नष्ट होजाय परन्तु अपनी वाह वाही के लिये व अन्य पुरुषों को रंजायमान करने के लिये तू भूत पिशाच डाकिनी आदि की बाधाओं के दूर करने वाले ह्रीं फट्कार वशट् आदि मंत्रों का अभ्यास मत कर। याद रख इनके अभ्यास से तेरी आत्मा का कभी कल्याण नहीं हो सकता है।

स्तोकेना बिशिदेन संशय वता किं पोतकी पिंगला।
काकादि व्यभिचारिशाकुन परि ज्ञानेन निश्चीयते॥
स्वस्थं सद्गति दिव्यनाद परमानंदोदयं बुध्यसे।
हसं चेदिह किं कलयसि स्वाधी बोधस्तदा॥

आत्मन्! तू शकुनके ज्ञान को प्रकर्ष ज्ञान मानता है परन्तु

वह बिलकुल थोड़ा है। महा मलीन अपवित्र, संशय उत्पन्न करने वाला और कबूतरी बगुलों की पंक्ति और काक आदि का व्यभिचारी है अर्थात् शकुनी मनुष्य कभी कभी यह पूर्ण निश्चय नहीं कर सकता कि कबूतरी बक आदि के सामने पड़ जाने से क्या फल होगा। इसलिये तू उस ज्ञान से कभी भी किसी बात का निश्चय नहीं कर सकता यदि तुझे अपने स्वरूप में लीन, उत्तम गति, दिव्यध्वनि और अतिशय आनन्द मंडित आत्मा का ज्ञान है तो तू उसी से सब बातोंका निश्चय कर सकता हैं। क्योंकि उस समय तेरा ज्ञान स्वाधीन आत्मिक है। अर्थात् जबतक आत्मा को स्वाधीन बोध प्राप्त नहीं होता तब तक वह निस्संदेह होकर किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता तथा इसका लाभ, स्वस्थ, उत्तम गति और दिव्य वनि के धारक, एवं आनन्द स्वरूप आत्मा के निश्चय से होता है। इसलिये हे आत्मन्, यदि तू वास्तविक सब पदार्थों का निश्चय करना चाहता हैं तो इसी स्वाधीन ज्ञान का तू लाभ कर, (व्यर्थ के शकुन ज्ञान में मत फंसे, क्योंकि वह ज्ञानस्तोक बिलकुल थोड़ा ज्ञान) है। अविशद अर्थात् परोक्ष और संशय करने वाला है, तथा कबूतरी आदि के सामने पड़जाने से कुछ और शकुनी समझ लिया जाता है। और कुछ और ही हो जाता है इसलिये ये सभी व्यभिचारी हैं।

इसलिये हे जीव ! तू जिसके प्रसाद से स्वरूप ज्ञान अर्थात् अपने निज आत्म स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो ऐसे स्वानुभव का

अभ्यास करो। प्रथम यह लोक षट द्रव्यों से बना हुआ है और उसमें छहो द्रव्यों से भिन्न सहजस्वभाव सच्चिदानन्दाद्यनन्त गुणमय चिदानन्द हैं। अनादि कर्म संयोग से आत्मा शुद्ध हो रहा है। उसके पर पदार्थ को अपना मानकर पर भाव को किया। इसलिये उसमें जन्म मरणादि दुःख हो रहा है। ऐसी दुःख परिपाटी अपने अशुद्ध चिन्तन से प्राप्त किया गया है। अगर तू अपने स्वस्वरूप को संभाले तो एक क्षण में ही सभी दुःख दूर हो जायँगे और उसकी रक्षा करना ही स्वस्वरूप की प्राप्ति है। यही उसका उपाय दिखाया गया है- यही परिणाम यदि आप उलटा मानकर आपने आत्म स्वरूप को भूलगये और अगर इसी परिणाम को पलट कर स्वस्वरूप की ओर लगायेंगे तो मोक्ष लक्ष्मी का कांत अर्थात् अधिपति बनेंगे ऐसे परिणामों में कभी दुःख या क्लेश नहीं होता। यह परिणाम कौन करता है ? अनादि अविद्या में पड़ा हुआ है तथा मोह की गाँठ मजबूत पड़ी हुई है। आत्मा पर का एकत्र संधान हो रहा है। जैसे किसी पुरुष को अफीम का नशा चढ़ जाने से दुःख होता है, परन्तु उस नशा के वजह से छूट नहीं सकता। क्योंकि बहुत चढ़ गया है। इतनी अधिक मात्रा में कैसे चढ़ गया ? मात्रा ज्यादा होने से अगर वह छूट जाय तो क्लेश नहीं है। लेकिन उस मात्रा की नशा बढ़ जाने से वह प्राणी अन्ट सन्ट कहता रहता है। वह कहता है कि मैं बन्धनों से बँधा हूँ। वह यदि छूट जाय तो सुखी है, परन्तु उस बंधन से मुक्त नहीं हो पाता। अनादि संयोग से छूटे तो सुख है मिथ्या वस्तु को ग्रहणकर दुःख मानकर बैठा है। इसे मिटाने के लिये

प्रज्ञा रूपी छैनी को आत्म और आप पर के एकत्व संधान में डालें तो उससे दोनों अलग करके उसमें से चेतना अन्श जिसमें जड़ पदार्थ नहीं है उसे अपना मानकर और अचेतन को पर मानकर छोड़ देगा यह किस प्रकार जानें उसे कहते हैं- निजस्वरू अपना जाने तो यह ज्ञानी पुरुष का आत्मीय लक्षण है। इस निज ज्ञान आत्मस्वरूप निधि को बहुत साधु सन्त पहचानकर अजर अमर हो गये हैं। परन्तु पर कथन मात्र से ही इस आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसकी प्राप्ति के लिये अपने चित्त को चेतना में लीन कर स्वस्वरूप अनुभव का विलास सुख निवास है। उसे क्रियात्मक रूप से प्रयोग करो। उसके नियम को कहेंगे निरन्तर अपने स्वरूप की भावना में मग्न रहे। दर्शन ज्ञान चेतना का प्रकार उपयोग द्वार में दृढ़ भावना करें। तब उसी चित्त परिणितियों से स्वरूप रस उत्पन्न होता है। द्रव्य गुण पर्याय का यथार्थ अनुभव करना ही अनुभव है। इसी अनुभव से पंच परमेष्ठी हुये हैं और भविष्य काल में भी होंगे यह अनुभव का प्रसाद है। इसी अनुभव से अर्हन्त और सिद्ध पद को प्राप्त हुये हैं। इसलिये हे जीव पर वस्तु से भिन्न अपने स्वस्वरूप का अनुभव करना सुख का मुख्य मार्ग है। यही भगवान जिनेश्वर ने बतलाया हैं। जो प्राणी इसका निरंतर अनुभव करेंगे वे अजरअमर सुख को प्राप्त कर सकेंगे।

मोह रूपी पिशाच को दूर करने के लिये आत्म स्वरूप में दृढ़ता रखना

अणुतात्मा पंमेष्टि निश्चयनयं त्वद्रू—पमं द्रव्यदिं ।
गुणदिं पर्ययदिंद साधनरिगँ निन्नुक्ति यिंदातनु ।।
लपण मोहग्रहमंपेणर्चिसि परिच्छिन्नात्म तत्वं दृढ ।
प्रणिधा नोचितनप्पनेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपीती ! ।।२

अर्थः- हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान ! जो भव्य जीव आपके अमृतमय दिव्य उपदेश को सुनकर द्रव्य गुण पर्यायापेक्षासे श्रेष्ठ हुआ ऐसा आत्म स्वरूप श्रेष्ठ पंच परमेष्ठियों को और निश्चय नय को व आपके स्वरूप को जानने वाले हो और मानकर उसमें भ्रम को उत्पन्न करने वाले मोहरूपी पिशाच को दूर करके आत्म स्वरूप में दृढ़ता रखने वाले है वही भेद विज्ञान के योग्य है और वे ही धन्य है ऐसे आपने अज्ञानी जीव को समझाया ।।२।।

विवेचन— ज्ञानी भव्य जीवात्माको चाहिये कि निश्चय को प्राप्त करने के पहले जिन महान महान तीर्थङ्करों ने इस क्षणिक संसार की वृद्धि करने वाले तथा कर्म बन्धको प्राप्त करके चक्रवर्तीआदि की महान महान पद को तृणवत्त जानकर वैराग्य संयुक्त हो कर जब इस बाहरी सम्पत्ति को ठुकराते हुये ऐसी भावना भाते हुये अपने आत्मा को समझाया कि:—

कोहं की दग्गुणाः क्वत्यः किं प्राप्यः किंनिमित्तकः ।
इत्यूह ःप्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥

मैं कौन हूँ, मुझमें कौन कौन गुण हैं मैं पूर्व में किस पर्याय (न जाने नर्कादि किस दुःख मय पर्याय) से आया हूँ मुझे इस पर्याय में क्या प्राप्त करना है (रत्नत्रय स्वरूप धर्म न कि विषय भोग) और मैं किस हेतु पैदा हुआहूँ (परोपकार धंम रक्षा आत्म कल्याण के हेतु) इस प्रकार विचार करते हुये मनुष्य पर्याय का सार्थक होना इस आत्म कल्याण में ही है यही मुझको करना चाहिये ।

मुत्ह्यंति देहिनो मोहान्मोहनी येन कर्मणा ।
निर्मितान्निर्मिता शेष कर्मना धर्म वैरिणा ॥

प्रत्येक प्राणी समस्त ज्ञानावर्णादि कर्मों के जनक और धर्म घातक मोहनी कर्म के उदय से प्रणी आत्मेतर वस्तुओं में मोहित होकर आत्म, स्वरूप को भूल कर संसारिक दुःखोंके चंगुल में फंस रहे हैं,

किन्तु कर्तुं त्वमारब्धं किन्तुवा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हंतु ह्येन मुह्यसि ॥

हे आत्मन् ! तूने कौन कार्य करना शुरू किया था और इस समय कौन कार्य कररहा है बड़े खेद की बात है कि तुम शुरू किये हुये आत्म हितका परित्याग कर इससमय बाहरी पदार्थों में मोहित हो रहा है

इदमिष्टमनिष्टं वे त्यात्मन्संकल्प यन्मुधा ।
किन्तु मो मुह्यसे बाह्ये स्वस्वातं स्ववशीकुरु ॥

हे आत्मन् ! इस असार संसार में यद्यपि कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है सब अपने अपने स्वभाव से परिणमन कर रहे हैं। किन्तु तेरा अति चंचल मन ही श्रेष्ठ वस्तु को अच्छी और अनिष्ठ वस्तु को बुरी मानकर उसमें रागद्वेष करना है अतएव तेरा कर्तव्य है कि तू अपने चंचल मनको ही स्वाधीन कर, जिससे वह स्वछन्दता से बाहरी वस्तुओं में ऐसी कल्पना ही न करसके, और उसके अपराध से तू भी रागी-द्वेषी मत कहलाओ अब तू अपना सच्चा हित जिसमें है ऐसा विवेक पूर्वक विचार करके अपनी सच्ची आत्मा को साधन के द्वारा अन्वेषण किया। इस प्रकार वे महान व्यक्ति तीर्थङ्कर देव शुद्धात्मतत्व में दृढ़ता बनकर बाहरी संपत्ति को तृण के समान त्याग कर, वे श्रेष्ठ पद के धारक तीर्थङ्कर भगवान ने भयानक महान अटवी के बीच में प्रवेश कर अखंड आत्म सुख की प्राप्ति के लिये तीन लोक में पूजनीय ऐसा देव दानव इन्द्र धर्नेन्द्र चक्रवर्त्यादि के लिये पूजनीय परम पद को प्राप्त कर देने वाले महान कर्म शत्रु को हनन करने को कुठार के समान ऐसे श्री जिनेश्वरी दिगम्बरी दीक्षा धारण के पहिले अपने सिरों के बालों को पंचमुष्ठी (अपने हाथ से) के द्वारा ऐसे उखाड़ उखाड़ कर फेंक दिये, कि मानों अपने क्रोधमान माया लोभ रूपी टाँग को उखाड़कर फेंक रहे हों। ऐसे अपने हाथों से पंचष्मुठी लौंच करके परम वीतराग दिगम्बर भेष जिनेश्वरी मुद्रा धारण करली, बाद में व्यवहार और निश्चय के द्वारा तथा नय और युक्ति के द्वारा आत्म सुख की प्राप्ति के लिये आत्म साधनी भूत पंचमहाव्रत, पंच समिति, पंचइन्द्री, निरोध

भूमि शयन, स्नान, अदंतधावन एक भुक्त खड़े खड़े आहार, केशों का लौंच और अनेक प्रकार की होने वाली बाईस परीषह सहन करते हुये घोरा घोर कठिन तपश्चरण के द्वारा कर्म शत्रु को हनन करते हुये क्रम से पंच परमेष्ठी पद प्राप्त किया। और वे ही पंचपरमेष्ठी अपने आत्म स्वरूप को द्रव्य गुण पर्यायों के द्वारा सिद्ध करके बताये गये, उन्हीं के मार्ग का अवलंबन होने के पहले इन्हीं पंच परमेष्ठी के व्यवहार मार्ग का अवलम्बन करें। अब उन्हीं पंच परमेष्ठी के स्मरण करने का उपाय बताते हैं।

तेसिं अक्खर रूपं भवि यमणुस्साण सायमाणाणं।
वुज्झइ पुण्णं वहुसो परं पराये हवे मोक्खो ॥

भावार्थ—यहां पर सम्यक्दृष्टी आत्मज्ञानी भव्य जीव को लक्ष में लेकर कहा गया है कि जब उसका मन इतना बलवान नहीं होता है कि अपने आत्मा में दीर्घकाल तक स्थिर न हो तब तक अशुभ भावों से बचाने के लिये पुनः पुनः शुद्धभाव व स्वानुभव को प्राप्त करने के लिये पंच परमेष्ठियों का जप व ध्यान उनके वाचक मंत्रों के द्वारा करता है जहां मंत्रों को जोर से व धीरे से कह कह कर एक सौ आठ दफे व अधिक व कम अभ्यास किया जावे उसको जप कहते हैं। जब किसी मंत्र को मस्तक पर भोंह के लता के बीच में नाक की नोक पर हृदय में कंठ में आदि स्थली पर विराजमान करके उसमें चित्त को रोका जावे वह कभी कभी पंचपरमेष्ठियों के सबके या एक किसी के गुणों

का मनन किया जावे उसको ध्यान कहते हैं। क्योंकि उनके जप व ध्यान में भाव शुभराग सहित होता है, इससे बहुत अधिक साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म का बंध होताहै, जिनमें स्थिति कम पड़ती है, परन्तु अनुभाग अधिक पड़ता है, साता वेदनीय के बंध के कारण भाव तत्वार्थ सूत्र में कहा है:—

भूत वृत्यनु कम्पादान सराग संयमादि योगः क्षांति शौचमिति सद्वैद्यस्य

प्राणी मात्र पर दया वृत्ती महात्माओं पर विशेप दया अहार आदि चार प्रकार का दान, करना, साधूसंयम, श्रावक का देश संयम, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, योग समाधि, क्षमाभाव, तथा शौचभाव, ये सब साता वेदनीय कर्म के बंध के कारण भाव हैं। वीतराग केवली के भी योगों के द्वारा साता वेदनीय रूप कर्मों के ईर्यापथ आश्रव होता है। क्योंकि वहां पूर्ण समाधि व शौच भाव है, जितने अंश वीतरागता होती है पाप कर्मों का क्षय भी होता है, ध्यान करने और जपने योग्य मंत्र अनेक हैं।

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगञ्च जवही झायेह।
परमेष्ठी वाच यानं अण्णाणं गुरु वये सेण॥

परमेष्ठी वाचक सात मंत्र प्रसिद्ध हैं व गुरू के उपदेश से और मंत्र भी हो सकते हैं।

३५ अक्षरी णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आयरीयाणं, णमो उवज्यायाणं णमो लोए सव्व साहूणं,।

१६ अरहंत, सिद्ध, अचार्य, उपाध्याय, सर्व साधुभ्यो नमः।

६ अरहंत सिद्ध।

५ अ सि आ उ सा।

४ अरहंत ।

२ अर्हं, सिद्ध, ओंह्रीं, सोहं ।

१ ॐ, श्रीं, ह्रीं ।

पदस्थ ध्यान का स्वरूप वर्णन ज्ञानार्णव इत्यादि ग्रन्थ में देख लेना क्योंकि ग्रन्थ विस्तार अधिक होने से नहीं लिखा ।

पंच परमेष्ठी का ध्यानी अवश्य नियम से कभी न कभी मोक्ष प्राप्त करेगा, क्योंकि वह सम्यक्दृष्टि है इस शुभ भाव के ध्यान से अवश्य शुद्धोपयोगमें रमण करेगा । छपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर कर्मों का क्षयकर सिद्ध गति को प्राप्त करेगा । इस प्रकार हे जीव ! तू व्यवहार नय को गौड़ मानकर केवल अपने शुद्ध आत्म तत्व का मनन करो । उसके वाद उसमें रत होकर इस प्रकार की भावना करो कि:—

जंपुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं ।
सवियप्पं सासवयं निरासवं विगयसंकप्पम् ॥

अर्थ—अपनी ही आत्मा के ऊपर जहां लक्ष्य हो वहां स्व तत्व होता हो । व्यवहार नय को गौड़ करके शुद्ध निश्चय नय से जहां आत्मा के स्वरूप का चिंतवन किया जाय कि यह मेरा आत्मा ज्ञायक शुद्ध स्वभाव है, यह अवद्ध एक तथा निश्चल है और अभेद सामान्य है । इसके अतिरिक्त रागादि रहित वीतराग है । इत्यादि विशेषणों को लेकर भावना किया जावे व सविकल्प या भेद रूप विचार करने वाला तत्व है । जहां भावना या विचार वंद कर दिया जावे वहां आत्मा आप से आप में अपने द्वारा अपने ही लिये आप को ध्यावे अर्थात् जिस प्रकार पानी में लवण की

डली घुल जाती है उसी तरह निज स्वभाव में उपयोग को मगन कर दिया जावे और स्वानुभव प्रकट हो जावे या अद्वैत भाव हो जावे वह निर्विकल्प तत्व है; क्योंकिः—आस्तां बहिरुपधिर्यस्तनु वचन विकल्प जालमप्यपरम् कर्म कृत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम् किंचत् अर्थात् मेरी आत्मा निश्चय से विशुद्ध है इसलिये धन धान्यादि वाहरी परिग्रह तो दूर रहें; पर शरीर मन वचन भी मेरे नहीं हैं, क्योंकि ये सभी कर्मों के विकार हैं इसलिये मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, ये कभी मेरे निज नहीं हो सकते कहा भी है किः—

कर्मणो यथा स्वरूप न तथा कल्पना जालम् ।
तत्रात्म मति हीनो मुमुक्षुरात्मा सुखीं भवति ॥

अर्थात् कर्म का जैसा स्वरूप दिखाई देता है योग्य सामग्री के मिलने से कुछ सुख सा प्रतीत होता है; पर वह सुख नहीं है । वहां पर दुःख में सुख की कल्पना है इस लिए मोक्षाभिलाषी पुरुष जो उसे भिन्न समझते हैं वे ही सुखी कहे जाते हैं । संसार में घूमकर उन्हें पुनः दुख नहीं भोगना पड़ता, परन्तु रागादि भावों से रहित आत्म के स्वरूप की प्राप्ति से शून्य नहीं बनना चाहिये । विशुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये सदा उत्सुक रहना चाहिये, क्योंकि अस्पृष्ट मबद्ध मनन्यमयुत मविशेषम् भ्रमोपेतः यः पश्यति, आत्मान स पुमान् खलु नय निष्ठः । निश्चय नय से आत्मा अस्पृष्ट कर्मों के स्पर्श से रहित है । अवद्ध कर्म वन्ध से विमुक्त है, अनन्य सम्यक्दर्शनादि निज गुण स्वरूप है । अयुत कर्म रूप नहीं है अविशेप सम्यकज्ञानादि गुणों से भिन्न नहीं है

तथा भ्रमज्ञान से रहित है। जो इस प्रकार के आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है वह शुद्ध निश्चयावलंबी गिना जाता है। संसार में उसे दुख नहीं मिलता किंतु जो मनुष्य विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति से शून्य है आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना अनुचित समझता है वह आकाश के फूल के समान निरर्थक है। संसार में उसका जीवन जरा भी कार्य कारी नहीं है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि मन वच कायिक क्रियाओं की ओर न झुक कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अवश्य प्रयत्न करें। इसलिये हे भव्य जीव तू निरन्तर आनन्द-स्वरूप परमात्मा की विशुद्ध चिंता करने मात्र से विषय रस विरस हो जाता है। उत्तम गोष्ठी कथावार्ता का कुतूहल नष्ट हो जाता है। समस्त वासना विषय एक ओर किनारा कर जाता है, शरीर से भी प्रीति हट जाती है, वचन बोलना बंद हो जाता है और संपूर्ण दोषों के साथ मन नष्ट हो जाता है तो जो मनुष्य इस प्रकार की निर्विकल्प समाधि में स्थित है, परमानन्द स्वरूप आत्मिक सुख से संपन्न व विशुद्ध परब्रह्म परमात्मा की आराधना से उत्पन्न हुये आनन्द रूपी अमृत रस में मग्न है वह पुरुष सुधारस से परिपूर्ण घड़े के समान परमानन्द रूपी रस से परि-पूर्ण हो जाता है। उसे परमानन्द मय मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

हारं सूत्रादि नोंदे मौ क्तिकमणि व्रातंगळिं वेरुवे ।
रारूढोज्वलकांतियिं वगेये वेरूवेरु भल्तेंबवो ॥
लारैयूवंदु सदर्त्थ पर्ययगुणव्रातंगळिं जीवनें ।
दारोळ्पं सुविचार दिंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥३॥

अर्थः—हे निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपती हे परमात्मन् ! डोरा से पोही हुई माला ज्यादा मोतियों के अपेक्षा से अलग अलग दिखती है और अपने में रहने वाले प्रकाशमान ऐसी कांति के अपेक्षा से एक ही दिखती है अनेक नहीं है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इसी प्रकार यह जीव श्रेष्ठ ऐसा द्रव्य गुण और पर्याय अपेक्ष से अलग अलग दिखता है और चैतन्य गुणों की अपेक्षा के कारण से अभिन्न दिखता है अर्थात् एक ही है इस प्रकार आपने अज्ञानी जीवों को सरल तथा श्रेष्ठ विचार पूर्वक जीव द्रव्य के स्वरूप को समझाया ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे डोरा से गुथी हुई अनेक मोती को माला उस अंदर रहने वाले मोती के दाना देखने वाले को अलग अलग मालूम पड़ती है परन्तु जब उसकी क्रांती मोतियो से बाहर झलकती हुई उछल उछल कर ज्योति चारों ओर फैल जाती है उस समय अलग अलग न दिखती हुई एक ही मालूम पड़ती है उसी प्रकार यह चैतन्य गुणात्मक जीवात्मा पर्य्याय के अपेक्षा से नाना रूप वाला होकर एकेन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय पांच इन्द्रिय पर्याय को अलग अलग धारण करता है कभी मनुष्य पर्याय में जन्म लेकर बाल तरुण वृद्धावस्था को प्राप्त होता है तब बाल

अवस्था में बालक कहलाता है, शिशु कहलाता है, जब तरुण अवस्था को प्राप्त होता है, तब युवा कहलाता है, योद्धा कहलाता है, वाणिज्य व्यापार उद्योग करते समय व्यापारी कहलाता है, सेठ साहूकार श्रीमंत इसप्रकार नाम धराताहै, जब वृद्धावस्थामें प्रवेश करता है तब वृद्ध, बूढ़ा, डोखा इत्यादि नामों से पुकारा जाता है, कभी देव गति को प्राप्त होता है तब देव कहलाता है, देवेन्द्र, इन्द्र कहलाता है, प्रत्येन्द्र कहलाता है, कभी सौधर्मेन्द्र कभी अहमिन्द्र कहलाता है, जब नरक में जाता है तब नारकी कहलाता है, जब तिर्यञ्च में गमन करता है तब तिर्यञ्च पशु होकर बैल कहलाता है घोड़ा, गधा, गाय, बकरी बकरा, हाथी, सिंह इत्यादि अनेक गति को प्राप्त होकर अनेक नामों को धारण करा लेता है, कुत्ता होता है तब कुत्ता कहलाता है, इस प्रकार इन पर्यायों को धारण कर अनेकों गिनतियों से माना जाता है, उस समय यह जीव नाना दुखों को सहते हुये चतुर्गति हिंडोले में भ्रमण करते हुये अपने आपको भूलकर परमें रमण करता है, कहा भी है—

विन्मूत्र पूरिते भीमे पूति श्लेष्म वसा कुले।
भूयो गर्भगृहे मातुर्दैवाद्यातोऽसि संस्थितम् ॥

इस भयानक संसार में घूमते हुये कभी इस जीव ने मन्द कषाय से मानव आयु बांध ली तो यह मनुष्य गति में आकर माता के गर्भ में नौ मास तक उलटा टङ्गा रहता है और गर्भ गृह नरक के समान है, मल, मूत्र से भरा हुआ है। पीप, कफ, चरबी से पूर्ण है कृमियों से भी भरा हुआ है। ऐसे स्थानमें इस जीव को

उल्टा टङ्गना पड़ता है, माता के आहार से इसका पालन होता है। मनुष्य गति में आने के पहले नौ मास गर्भ में रुकने का वड़ा कष्ट सहना पड़ता है, फिर जन्मते हुये घोर कष्ट होता है, मानव गति के भी दुःख भयानक हैं, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग तथा तृष्णाके दुःख अधिकांश जीवोंको होते हैं, इसके सिवाय रोगादिक व दरिद्रता के व इच्छित वस्तु न पाने का इत्यादि वड़े वड़े कष्ट होते हैं।

तिर्यग्गतौ च यद् दुःखं प्राप्तं छेदन भेदने।
न शक्तस्तत् पुमान वक्तु जिव्हा कोटिशतैरपि ॥

पशुगति में एकेन्द्रिय स्थावरों को छेदने भेदने के दुख विचारों में भी नहीं आ सकते, पराधीन उनको रहना पड़ता है, विकल-त्रस जीव भी गर्मी सर्दी भूख प्यास से व मानवों के अनेक आरंभ से वड़े वड़े कष्ट पाकर पीड़ित होते हैं, पंचेन्द्रिय सैनी पशु मारन ताड़न अधिक भार लादन कठोर वचन के प्रहार से सवल द्वारा सताये जाने से मानव दुख पाते हैं।

इस प्रकार यह जीव नाना प्रकार के पर्याय को धारण करते हुए अनेक पर्याय तथा योनी जाति कुल धारते हुये चारों गति के दुःख सहता हैं परन्तु अज्ञान के कारणवश वेदना को सहते हुये विपरीत कर्म के वन्धन से अपने स्व स्वरूप एकत्व निज स्वरूप आत्म स्वरूप स्मरण न आने का कारण "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं" इस कहावत के अनुसार पुनः जन्म और पुनः मरण करते हुये एकेन्द्रि से पंचेन्द्रियों तक प्राप्त होता है। कहा भी है:—

चतुर शीतिलक्षेष योनीनां भ्रमता त्वया ।
प्राप्तानि दुःख शल्यानि नाना काराणि मोहिना ॥

जातियों की संख्या ८४ लाख है शरीरादिक के मोह के कारण यह जीव कर्म बांध कर पाप पुण्य के अनुसार अच्छी या बुरी योनी में जन्म लेता है, वहां जो इस जीव ने दुःख उठाये हैं वे कथन में नहीं आ सकते हैं, हर एक योनी में जन्म से ही तृष्णा का रोग तो होता ही रहा । इष्ट वियोग हुआ ही अनिष्ट संयोग भी हुआ ही, जन्म-मरण दुःख तो हुआ ही, इस जीव ने अपने आत्मा को न जानकर व सम्यक्दर्शन को न पाकर संसारमें महान् दुःख उठाये हैं उस योनी की संख्या ८४ लाख है, नित्य निगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, पृथ्वीकाय ७ लाख, जल कायिक ७ लाख, अग्नि कायक ७ लाख वायु कायक ७ लाख प्रत्येक वनस्पति १० लाख, दो इन्द्रिय २ लाख, तीन इन्द्रिय २ लाख, चार इन्द्रिय २ लाख, देव ४ लाख, नारकी ४ लाख, पंचन्द्रिय तिर्यंच ४ लाख मनुष्य १४ लाख कुल ८४ लाख योनी इस जीव ने भ्रमण किया यह अन्धा प्राणी विषयों की आशक्त के भीतर इतना फंसा हुआ है कि रात दिन पांचों इन्द्रिय के भोग पदार्थों का लालसा रखता हुआ उनकी चाह की दाह में जला करता है ।

वार वार संसार में नाना प्रकार के कष्ट भी पाता है तो भी विषयानुराग को नहीं छोड़ता है, इसकी बुद्धि ऐसी मन्द होगई है कि सच्चा सुख जो अपनी आत्मा ही में है और जो परम शांति दाता है, उसकी तरफ दृष्टि पात नहीं करता है, भवसागर में गोते लगाता हुआ तड़फता है । परन्तु भव समुद्र में तारने वाली धर्म

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।
पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः,
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥

अर्थः—जग में आश्चर्यकारी बहुत सी बातें हैं व सदा होती रहती हैं। परन्तु हम उन्हें देखकर भी आश्चर्य नहीं मानते; और असली आश्चर्य उनमें है ही नहीं। वस्तुओंका जो परिवर्तन कारण पाकर होने वाला है वह होगा ही। उसमें आश्चर्य किस बात का हां, ये दो बातें हमको आश्चर्ययुक्त जान पड़ती हैं। कौन सी एक तो यह कि, अतिदुर्लभ अमृत को पीकर उसे उगलदेना, दूसरी यह कि, संयम की निधि पाकर उसे छोड़ देना। जो ऐसा करते हैं। वे भाग्यहीन समझने चाहिये।

भावार्थः—जो अति मूर्ख होगा वही अमृत पीने को मिलनेपर भी तथा उसे पीलेने पर भी फिर उगलेगा। लोग यह समझते हैं। कि अमृत पीलेने से फिर मृत्यु पास नहीं आती। जब मरण नही तो बुढ़ापा एक आधासा मरण ही है; वह भी क्यों आवेगा बस, अमृत पीने वाला मनुष्य सदा आनन्द में मग्न रह सकता है। उसे कभी किसी प्रकार की आपत्ति, क्लेश सहने नहीं पड़ते। जब कि अमृत की यह बात है तो समय तो सर्वथाही कर्मादि दुःख कारणों का निर्मूल नाश करने वाला है। इसलिये संयम-निधि को पाकर जो छोड़ना चाहता है वह तो बहुत ही बड़ा मूर्ख है। उसकी इस अज्ञानपूर्ण कृतिपर जितना आश्चर्य हो उतना ही थोड़ा है। इसके

वराबर जग में भाग्यहीन और कौन होगा ? इस आश्चर्य से और कौन सा आश्चर्य बड़ा होगा ? सबसे बड़ा यही आश्चर्य व यही अनोखी बात है। तव क्या करना चाहिये ? तप व संयम ये ही असली नित्य सुख के साधन हैं इसलिये तप व संयम को कभी छोड़ना नहीं चाहिये।

केन्नं द्रव्यतेयिंद भिन्नने मरुन्मर्त्यादि पार्यायदिं।
भिन्नंदर्शन बोध मुख्य गुणसंदो हंगळिं नोडेतां ॥
भिन्ना भिन्नने निक्कुमात्मनेनितुं निन्नुक्तियिं निन्नवो।
लतन्नं भाविसुवंगे मुक्तियेंदरिपदे निर्वाण लक्ष्मीपती! ॥४

अर्थः—निर्वाण लक्ष्मीपनि के अधिपति हे परमात्मन्!

यह जीव विशेषकर द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न है, और देव मनुष्य पर्याय की अपेक्षा से अनेक भेद वाला है, तथा ज्ञान दर्शन इत्यादि गुण समुदायकी अपेक्षा से भिन्न और अभिन्न है, इसप्रकार हे भगवन् आपके उपदेश द्वारा कहा हुआ जो तत्व है वह भव्य प्राणी, आत्मस्वरूप को आपके समानही भावना करने वालों को क्या मोक्ष प्राप्ति क्या दूर है ? अर्थात् नहीं है, ॥४॥

विवेचन द्रव्य की अपेक्षा से यह जीव, अभिन्न है और देव मनुष्य पर्याय की अपेक्षा से अनेक भेद वाला है, समय सार-कलस में कहा है कि—

वर्णाद्य वा राग मोहा दयो वा भिन्न भावाः सर्व एकस्य पुंसः।
तैने वान्त स्सरवनः पश्यते ऽमिदृष्टाः स्युदृष्टं मेकंपरंस्यान् ॥

इस आत्मा के स्वभाव से वर्णादि गुण स्थानादि रागमोहादि से सब भाव भिन्न है इस कारण यदि निश्चय से आत्मा के भीतर देखा जावे तो इनमें से किसी का भी पता न चलेगा एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पड़ेगा इस तरह में सिद्ध के समान परम शुद्ध निरंजन देव मैं हूँ केवल निराला एक आत्मा हूँ मेरे में सर्व

ही पर का अभाव है ऐसा स्याद् वाद नय से जानकर केवल अपने शुद्ध स्वभाव का ही ध्यान या अनुभव करना योग्य है। देव सेन आचार्य अपने तत्वसार में कहा है कि—

अत्थिति पुणोभणियाणए ववहारि णाणए सव्वे।
णोकम्म कम्मणाहि पज्जाया विविहभेय गया ॥

उसी संसारी जीव के जब अशुद्ध दृष्टि से या व्यवहार दृष्टि से या कर्म बंध सहित दृष्टि से देखा जावे तो उसकी भूत भावी वर्तमान, अवस्थायें भी कर्मों के संयोग से होती हैं, वे दिखाने में आयेंगी। इसलिये आगम में व्यवहार नय से यह बात कही है। कि जीव रागादि भाव कर्म हैं, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म है शरीरादि नो कर्म हैं जीव के चौदह मार्गणाएं व चौदह गुणस्थान होते हैं। जीव नर नारकी देव तिर्यञ्च है, एकेन्द्रिय द्वेन्द्रिय है। कर्म के संयोग से जो जो अँतरंग आत्मा के भावों की व बाहरी शरीर की अवस्थायें हैं, उनकी आत्मा में हैं। ऐसा कहना व्यवहार है जैसे मिट्टी से मिले पानी को गंदला कहना लाल रंग में मिले पानी को लाल रङ्ग कहना हरे रङ्ग में पानी को हरा रङ्ग पीले रङ्ग में रंगे हुये पानी को पीला कहने का व्यवहार है, ऐसे कहने पर भी कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं समझ जायगा कि पानी का स्वभाव नाना प्रकार का मैला लाल हरा पीला है।

किन्तु वह यही मानेगा कि पानी का स्वभाव तो निर्मल ही है, दूसरी वस्तु के संयोग से अवस्था बदल गई है। निर्मलता बढ़ गई है, इससे उसे ऐसा कहते हैं ऐसा कहे बिना पानी की नाना प्रकार

की अवस्थाओं का ज्ञान नहीं हो सका। समंतभद्र आचार्य ने कहा भी है।

विधिर्निषे धश्च कथं चिदिष्ट विवक्षया मुख्य गुण व्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमते स्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतो ऽस्तुनाथ॥

वस्तुमें अस्तित्व नास्तिभाव अभाव नित्व अनित्य ऐसे विरोध स्वभाव तो पाए ही जाते हैं, परन्तु वे सब भिन्न-भिन्न अपेक्षा से होने पर कोई विरोध नहीं रहता है, जैसे किसी मानव को पिता ये पुत्र दोनों ही माना जावे ये दोनों विरोधी सम्बन्ध उस मानव से भिन्न अपेक्षा से हैं। वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है व अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। कोई विरोध की बात नहीं है, इससे नास्तिरूप अभावरूप व अनित्य है। दूसरे के दोनों स्वभाव समझाने का मार्ग यही है। जैसा कि उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है, "अर्पिता नर्पिताः सिद्धे" कि जिस वस्तु को कहना हो उस को मुख्यता से कहा जावे व जिसको न कहना हो उसको गौण कर दिया जाय यही अनेकांत है, स्यात् अर्थात् कथंचित वाद अर्थात् कहना वस्तु स्यात् भावरूप है, वस्तु स्यात् अभावरूप है। अर्थात् वस्तु कदाचित किसी उपसर्ग पर्याय के पलटने की अपेक्षा से अभावरूप है, श्री जिनेन्द्र भगवान की वरणी इसी तरह अनेकांत मन का प्रकाश करती हुई वाधा रहित पदार्थ को यथार्थ बता देती है, जैसे आत्ममीमांसा में कहा भी है।

वाक्येष्वनें कांतद्योती गम्यम्प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थ योगित्वात्तव केवलि नामपि॥

यह स्यात् एक अव्यय है। और अव्यय शब्द वाक्यों के

भीतर प्रयोग करने से अनेक स्वभाव वाले पदार्थ का प्रकाश करता है। साथ ही किसी एक मुख्य स्वभाव की विशेषता भी करता है, उसका अर्थ यही घटता है कि अनेक स्वभावों का होना बताते हुये भी एक को मुख्य करता है, अन्य को गौण करता है हे भगवान्! आपका यह मत है। ऐसा ही सर्व केवली और श्रुत केवलियों का भी मत है।

जैसे खड्ग को सोने चांदी पीतल तांवे के म्यान में रखे जाने से सुवर्ण की चांदी की पीतल की तांवेकी खड्ग कहने का व्यवहार है; क्योंकि कोप (म्यान) प्रगट दीखता है। ऐसा कहने व सुनने पर कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं मान वैठेगा कि खड्ग सुवर्ण चांदी पीतल तांवे का है वह यही समझेगा कि खड्ग तो एक ही प्रकार की सर्व म्यानों में है म्यानों के संयोग से ये नाम व्यवहार में चलाने के लिये कहे जाते हैं। वैसे ही संसारी जीव कर्म संयोग से अनंतानंत पर्य्यायों में पलटा करते हैं, अनंतानंत शरीर धारण किये हैं, तथा जहां तक कर्म का सम्बन्ध है वहां तक ये शरीर धारण करेगा तब जैसा शरीर होता है वैसा नाम भी व्यवहार कियाजाता है परन्तु इनसर्व अनंतानंत पर्यायों में जीव जीवरूप ही है, एकरूप ही है। स्वभाव का नाश नहीं हुआ केवल इसपर परदा या विकार होगया है।

एवमयं कर्म कृतैर्भावैरसमाहि तो ऽपियुक्तइव ।
प्रति भाति बालीशानां प्रति भासः सखलु भव बीजन् ॥

सार यह है, कि यह जीव निश्चय से कर्मों के द्वारा होने वाली अवस्थाओं को मूल में नहीं रखता है तौ भी अज्ञानियों के

ऐसा ही झलकता है कि यह जीव ऐसा ही है। यही अज्ञान संसार का बीज है, जो कोई मैले पानी को पानी का स्वभाव मान लेगा, वह कभी भी निर्मली डाल कर पानी को साफ नहीं करेगा, उसे शुद्ध पानी का स्वाद नहीं आवेगा कर्मों के संयोग वशसे नाना प्रकार जीव की अशुद्ध अवस्थाओं को जीव की ही स्वभावीन पर्यायें मानना ही मिथ्यात्व है। ये अवस्थायें अकेले शुद्ध जीवकी नहीं हैं। जीव स्वभाव से शुद्ध गुण पयार्यों का धारी हैं ऐसा मानना ही सम्यक्त्व है। यही मुक्ति का बीज हैं, इस प्रकार जीव तू हमेशा व्यवहार नय को हेय मानकर शुद्ध निश्चय नय द्वन्द भाव से रहित एकत्व शुद्ध आत्मस्वरूप का भेद रहित भावना से भाया हुआ भगवान ने शुद्धात्म स्वरूप को आपकी भावना अनादि कर्म संतापको मिटाने का प्रयत्न करो यही जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ सार को ग्रहण कर आत्मतत्व का विचार करो यही आत्मतत्व है।

अपने को आपही भावने से आत्म सिद्धि होती है

एन्नं तत् परमात्मनं नेनेयलानु शक्तिर्यि व्यक्तियिं ।
केन्नं भव्यतेर्थिद मागदिरदेंवगिन्दप्पल्लिगं ॥
तन्नं तानरिदन्यदिं तोलगिं तन्नो ळ निल्वनुष्ठानमुं ।
च्छिन्नं कारण मक्कुमें दरिपदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥५॥

अर्थः—मोक्षलक्ष्मी के अधिपति हे सिद्ध परमात्मन् !

आत्म सुखकी या मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्य ज्ञानी जीव आप और अपनी शक्ति और शक्ति को प्रगट करने से अपने की और उस परमात्मा को स्मरण करने से विशेष रूप से उस आसन्न भव्य को आपके गुणों की प्राप्ति नहीं होगी। अपने आप ही भावना करने से आत्म सिद्धि होती है। इसलिये अपने स्वरूप को आप ही जानकर पर वस्तुओं के ममत्व को छोड़कर अपने स्वरूप में आपही रत होने का आचरण ही उसका चिन्ह समझकर जो ज्ञानी भव्य जीव उसमें रत होकर रमण करता है। और उसी को अपने परम रसायन पान करने योग्य है, ऐसे जानता है। वही आत्म ध्यानी आत्म ध्यान करने योग्य है तथा वही कारण है। ऐसे आपने संसारी जीवों को समझाया है ॥५॥

विवेचन—मोक्ष की इच्छा करने वाले संसारी जीवको चाहिये कि पहिले अपने आत्म सुखके लिये व्यवहार सम्यक्त्वको आचरण करना जरूरी है। सच्चे देव गुरु शास्त्र इस पर श्रद्धा रखना पूजा भक्ति चारों प्रकार दान देना और अरहंत भगवान की पूजा करना उनको ध्यान करना यह सभी व्यवहार धर्म है। और पुण्य के लिये कारण है, पुनः संसारकी वृद्धिके लिये कारण है। इंद्र देवेन्द्र

चक्रवर्त्यादि पद को देने वाली होने पर भी यह व्यवहार धर्म संसार वृद्धि के कारण है। और इन्द्रिय सुख को बढ़ाने वाले हैं। बार बार जन्म मरण को प्राप्त करने वाले बिना मोक्ष को देने वाले नहीं हैं। मात्र पुण्य को देनेवाले हैं। इसमें आत्म सिद्धि नहीं है, आत्म साधन की साधना है। क्योंकि पुण्यानु बंध पुण्य राग और ममत्व को बढ़ानेवाले हैं, लोभ वासना को उत्पन्न करने वाला है। जितना जितना लोभ बढ़ता जावेगा उतनी परिग्रह की लालसा बढ़ती जाती है। इसलिये सभी परिग्रह जीवात्मा के लिये चारों गति में भ्रमण करने के लिये निमित कारण हैं। कहा भी है—

निर्ममत्वं परम तत्वं निर्ममत्वं परं सुखम्।
निर्ममत्वं परम बीजं मोक्षस्यकथितं बुधैं॥

जिसने सर्व पदार्थों से ममता छोड़ दी है। इन्द्र धरणेंद्र चक्रवर्ती आदि के भोग जिसे आकुलता कारण त्यागने योग्य हैं वह महात्मा एक अपने आत्मा में व उसकी मुक्ति में ही प्रेमी हो जाता है अतएव वह सर्व ममत्व से रहित होकर परमात्म तत्व का भले प्रकार अनुभव कर सकता है। इस स्वात्मानुभव से अतींद्रिय उत्तम सुख को भोगता है। ये ही मोक्ष का सच्चा उपाय है। जब जगतकी चंचल वस्तुओंसे वैराग्य होगा तबही निजात्मिक आनन्द का प्रेम होगा। सुखका कारण एक निर्ममत्व भाव ही है। निर्मोही जीव ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

आत्मध्यानकी प्रेरणा—

तम्मा अभव्सऽसवा मुतुणंराय दोस वामो हो।
भायउ णिय अप्पणं जइ इच्छ सासपेसुक्खं॥

इसलिये यदि अविनाशी व अतींद्रिय सुख को चाहते हो तो राग द्वेष मोह को छोड़कर सदा अभ्यास पूर्वक अपने ही आत्मा को ध्यावो।

भावार्थः—इस काल में भले प्रकार धर्म ध्यान हो सकता है। ऐसा निश्चय करके हर एक श्रद्धावान गृहस्थ या साधु को नर या नारी को उचित है कि अपने ही आत्मा के भीतर विराजमान जो सच्चा आत्मिक अविनाशी सुख है। उसका स्वाद लेने का उत्साह करे परम धरमानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मा को और उपयोग को स्थिर करने का या स्वानुभव करने का अभ्यास करें। आत्माध्यान की प्राप्ति के लिये ज्ञान व वैराग्य की जरूरत है। आत्मा व आत्माका सच्चा भेद विज्ञान होना यह सम्यक ज्ञान ऐसा होना चाहिये कि मैं आत्म द्रव्य हूँ सबसे भिन्न एकाकी हूँ अपने ज्ञानानन्द आदि गुणों का अखंड पिन्ड हूँ। द्रव्य संग्रह में कहा है।

मा मुज्झई मा रज्जइ इट्ठ णिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छइ जह चित विचित झाणप्प सिद्धीए॥

हे भाई यदि तू नाना प्रकार ध्यान की सिद्धि के लिये मन को स्थिर करना चाहता है, तो इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में मोह मत कर राग मत कर तथा द्वेष मत कर सर्व विश्व को समभाव से देखकर समभावी हो—

राय दिया विभावा वहिरंतर उह वियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णियय अप्पाणं॥

ध्याता को उचित है कि निश्चय नयकी दृष्टि से सर्व आत्माओं को समान शुद्ध देख करके रागद्वेष मोहादि भाव को छोड़े तथा निर्विकल्प होने के लिये वाहरी पुत्र मित्र देश ग्राम शिष्य, मन्दिर तीर्थ आदि के विचारों के भीतर अनेक ज्ञान के मतिश्रुत आदि भेदों को अथवा आत्म गुणों के चिंतवन को छोड़ो। निश्चय नयके वल से अभेद एक अखंड आत्मा को अपने उपयोग के सामने लावो। मन को उसी निज स्वरूपमें ही छोड़ दो। अर्थात् मन को एकाग्र करलो, इस तरह कर्मादि मलके अँजन से रहित निज आत्म रूपी देव का ध्यान करो।

ध्यान स्थिरता को कहते हैं। अपने आत्मा में स्थिरता पाने के लिये आत्मा के अशुद्ध निश्चय स्वरूप की भावना उपकारी है। भावना करते करते मन जव यकायक स्थिर हो जावे तव ध्यान का ध्यान या अनुभव पैदा हो जाता है। यह स्थान उत्तमोत्तम संहनन वाले को अन्तर मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता है। तव हम हीन संहनन वाले को यदि वहुत अल्प समय रहे तो कुछ अलाभ नहीं मानना चाहिये, भावना बहुत देरतक रहती है, ध्यान वीच २ में कुछ समय तक रह सकता है, आत्मानिरंजन है।

शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा अपने ही आत्मा को ध्यान में विचारता है जो मूल द्रव्य अपने स्वभाव को लक्ष में लेवे उस ही के निश्चय नय कहते हैं। उसकी अपेक्षा से यह आत्मा पूर्ण सिद्ध है। पूर्ण मल रहित है (शरीर रहित है, रागादि भावों से रहित है परम शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, निरंजन है। कोई प्रकार के अँजन या मल आत्मा में नहीं हैं न इसमें क्रोध मान माया लोभ कषाय

है, न कोई हास्यादि नौ कषाय हैं, यह सब मोहनी कर्म के उदय का अनुराग है, रस है। कलुषपना है, जीव के स्वभाव में इनका पता नहीं लगता है माया मिथ्या निदान ये तीन शल्य या काँटे भी मोहनीय कर्म विपाक के मैल हैं। आत्मा के निज मूल स्वभाव में इसका कोई स्थान नहीं है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याएँ भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, ये भावों के रङ्ग के दृष्टान्त हैं, मन वचन काय के हिलने से योग का परिणमन होता है और वह योग जब कषायों के रङ्ग में अधिक या कम रङ्ग होता है तब उसे लेश्या कहते हैं। ऐसी कषाय से अनुरंजित लेश्या शूक्ष्म सांपराय दशवें गुण स्थान तक है कषाय के राग से न रङ्गी हुई केवल योग प्रवृती रूप शुक्ल लेश्या ११-१२-१३ गुण स्थान में है, जिससे कारण कर्म वर्गणा आत्मा के साथ मिले उसे लेश्या कहते हैं। कर्मों का आस्त्रव नें तरहवें गुणस्थान तक होता है। जब जब तीव्र कषाय का उदय होता है तब मन वचन काय की प्रवृत्ति हानि कारक होती है। उस समय के भाव को अशुभ लेश्या कहते हैं, अशुभ तम कृष्ण है अशुभतर नील है। है। अशुभ कम होते हैं जब कषाय मंद होता है तब लेश्या कम होती हैं। शुभ पीत है, शुभतर पद्म हैं, शुभतम शुक्ल है, जन्म भी आत्मा में नहीं है। शरीर स्थूल औदारिक वैक्रियक शरीरके वियोग को मरण कहते हैं, आत्मा स्वभावमें कोई खंड या भेद नहीं हैं आत्मा के टुकड़े नहीं हो सकते न आत्मा के भीतर

ज्ञान दर्शन वीर्य सुखादि गुणों के भेद हैं, वह अनन्त गुण पर्यायों का अखंड खंड है न आत्मा के भीतर खंड ज्ञान के भेद हैं मति श्रुति अवधि मनः पर्यय खंड व कर्मवर्ति ज्ञान है आत्मा अखंड अक्रम सर्वज्ञान का समूह हैं।

आत्मा के भीतर शरीर छः प्रसिद्ध संस्थान नहीं है, समचतुरन न्यग्रोधपरि मंडल, स्वाती, कुब्जक, वामन, स्फटिक, ये छह संस्थान शरीर होते हैं। न आत्मा के कोई मार्गणाए हैं, संसारी जीवों के भीतर कर्मों के उदय की अपेक्षा को लेकर विशेष जो अवस्थायें होती हैं उनको मार्गणा कहते हैं, यह अवस्थायें चौदह प्रकार की हैं।

(१) गति ४—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव

(२) इन्द्रिय पांच एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय,
(स्पर्शना) (रसना) (घ्राण)
चारइन्द्रिय पांचइन्द्रिय
(चक्षु) (श्रोत्र)

(३) काय ६ पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतीकाय, त्रसकाय

(४) योग १५ सत्य मनयोग, असत्य मनयोग, मिश्र मनयोग, अनुभयमनयोग ४ सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, ३ उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, ४ काययोग ७ औदारिककाय औदारिक मिश्र, वैक्रियक काय, वैक्रियक मिश्र, आहारक काय, आहारक मिश्र, कार्माणकाय, ये सात काययोग।

(५) वेद तीन स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद

(६) कषाय पच्चीस अनंतानुबंधी, क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोधमान मायालोभ, अप्रत्याख्यान क्रोधमान माया-लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ, नौ कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद,

(७) ज्ञान आठ कुमति, कुश्रुती, कुअवधी, सुमती, सुश्रुती, सुअवधी, मन पर्ययज्ञान केवल ज्ञान,

(८) संयम सात-असंयम, संयमासंयम, सामायक, छेदोपस्थापना परिहार, विशुद्धी, सूक्ष्म, सम्पराय, यथाख्यात।

(९) दर्शन ४ चक्षु, अचक्षु अवधि, केवल दर्शन,

(१०) लेश्या, छह कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म, शुक्ल,

(११) भव्य २, भव्यत्व, अभव्यत्व,

(१२) सम्यक्त्व ६, मिथ्यात्व सम्यक्त्व सासादन, मिस्र, उपशम, वेदक, क्षायिक,

(१३) संज्ञी दो सैनी, असैनी,

(१४) आहारक २ आहारक, अनाहारक,

आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों के संयोग वश ये चौदह मार्गणाए हैं

आत्मा के सहज स्वभाव में इन दोनों का कोई काम नहीं है, वहां तो अखंड एक ज्ञायक भाव है, आत्मा के स्वभाव में कोई गुणस्थान भी नहीं है। अशुद्धता को घटाते हुये क्रम क्रम से शुद्धता को प्राप्त होते हुये मोक्ष महल के ऊपर चढ़ने के लिये जो श्रेणियां पद हैं उनको गुणस्थान कहते हैं। मोहनीय कर्म तथा योगों की अपेक्षा से इनके नाम पड़े हैं कहा भी है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो व भिन्न भावः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांत स्तत्वतः पश्यतेऽमिनोदृष्यः स्यासिष्ट मेकं परं स्याय ॥

भावार्थ—इस आत्मा के स्वभाव से वर्णादि गुणस्थानादि रागमोहादि से सव भावे भिन्न हैं। इस कारण यदि निश्चय से आत्मा के भीतर देखा जावे तो उनमें से किसी का भी पता न चलेगा एक उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूप ही दिखलाई पड़ेगा, इस तरह मैं सिद्ध के समान परम शुद्ध निरंजन देव हूँ, मैं केवल निराला एक आत्मा हूँ, मेरे में सर्व ही प्रकार अभाव है। ऐसा स्याद्वाद नय से जानकर केवल अपने शुद्ध स्वभाव ही ध्यान या अनुभव अभ्यास करना योग्य है। ये ही भावना आत्मध्यान के लिये कारण है इस प्रकार भगवान् ने कहा है कि हे भव्य ज्ञानी जीवात्मा! इस प्रकार तूभी अगर भावना करेगा येही आत्मध्यान का निशान है, ऐसे भावना भावकर अखन्डे निजात्म सुख की प्राप्ति कर मोक्ष लक्ष्मी की अधिपती वनेः—

भगवान ने अपने को आपही गुरु है, ऐसा कहा परन्तु भक्त को आपही गुरू है।

गुरुतां पेळ्दोड सेनो तत्वरुचि तन्नि श्चायकत्वंतदा।
चरणं नेट्टने तन्नधीनमदरिंदं निश्चयापे क्षेयिं॥
गुरु वक्कुं वगेवंदु ताने तनगेंवी युक्तियं युक्तियु।
त्कर चिंत्तवुगे पेळ्द नीने गुरुवै निर्वाण लक्ष्मीपती!॥६॥

अर्थः—भो निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी के अधिपती अरहंत देव! जो गुरुओं ने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का जो मार्ग भव्य जीवों के लिये वताया है, वे सभी विचार पूर्वक अपने अन्दर देखा जाय तो वस अपने अन्दर ही है अन्यत्र नहीं है, इसलिये अपने को आप गुरु हैं, अपने को अन्य कोई गुरु नहीं है इस प्रकार अपने भव्य जीवों को फरमाया है परन्तु हे दयानिधे! जिन परमात्मन् हमको आपही गुरु हैं अन्य कोई नहीं॥ ६॥

विवेचनः—परम्परा से भव्य जीव के लिये गुरुओं ने जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का उपदेश दिया गया है। यह सभी चीजें अपने पास ही है, अन्यत्र नहीं है।

जीव शरीरादि अजीव मिला हुआ हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। तव मात्र अपना जीव तत्व ग्रहण करने योग्य है और अजीव तत्व त्यागने योग्य है। त्यागने योग्य अजीव के ग्रहण का कारण वनाने को आश्रव व उसी को ग्रहण वन्ध वनाने को संवर और निर्जरा तत्व वतलाया हैं। त्यागने योग्य अजीव के विलकुल छूट जाने को मोक्ष तत्व कहा गया है।

जैसे नौकापर पानी भर जावे तो वह जल में डुवने लगती है, तव पानी को दूर करने की अवश्यकता पड़ती है। नौका पती

जानता है किसछेद से पानी अंदर भरा है। वह उस छेद को शीघ्र ही वन्द करता है। अनन्तर भरे हुये पानी को दूर करता है तव नौका सीधी अपने नियत स्थान को पहुँच जाती है। इसी प्रकार जीव अजीव के साथ में जव तक है तवतक संसार समुद्र में डूव रहा है। अजीव को दूर करने की आवश्यकता है। अजीव के आने का कारण आश्रव है। ठहरनेको वन्ध कहते हैं। आने के कारण को रोकने को संवर व संग्रह प्राप्त अजीव के हटाने को निर्जरा कहतेहैं, जव अजीव विलकुल भिन्न हो जाता है तव यह जीव मुक्त होकर सिद्ध क्षेत्रमें ऊर्ध्वगमन कर स्वभावसे चलाजाताहै यह मोक्षतत्व है।

दूसरा दृष्टांत-रोगी के भी विचार आसकता है। रोगी रोगसे मुक्त होना चाहता है। वह रोग के होनेके कारण को व रोग वढ़ाने को समझता है। रोग नया न वढ़े इसलिये रोगके कारणोंसे वचता है। प्राप्त रोगके मिटाने को औषधि खाता है तक एक दिन रोग से मुक्त होकर स्वास्थ लाभ कर लेता है। संसारिक रोग को मिटाने का उपाय इन साततत्वों के ज्ञान से होता है। इस प्रकार परम्परा गुरुओं ने जीव अजीव के भेद वताते हुये, अन्त में इन्हीं सात तत्वों में मुख्य एक जीव तत्व को ग्रहणकर छहों को त्यागना और केवल एक जीवतत्व आत्म स्वरूप का ध्यान करना यही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का लक्षण वताया है।

परन्तु हे भगवान ! भव्य जीव के लिये आपने यह वताया है। कि जीवतत्व—अजीव से भिन्न जीवतत्व का स्वरूप विचारा जावे तो यह विलकुल शुद्ध है। सिद्ध परमात्म स्वरूप अपने शुद्ध पूर्ण ज्ञान, दर्शन वीर्य सुख आदि गुणों का धारी है वर्णादि रहित अमू

निक है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी हैं। यह जीव अनेक साधारण और असाधारण गुण और स्वभावों का अखंड पिंड हैं। यही इसका द्रव्य स्वभाव है। यह असंख्यात प्रदेश रखना है यही इसका क्षेत्र स्वभाव है। यह सदा परिणमन शील है। समय समय पर अपने गुणों में स्वाभाविक परणामनशील करना है। यही इसका काल स्वभाव है इस जीव में जीवत्व ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि स्वभाव है। यही इसका भाव स्वभाव है। यह अपना जीव अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा आस्तिरूप उसी समय इस जीव में अन्य अनन्त जीवों का अनंत पुद्गलों का असंख्यात कालाणुओं का ध्यास्तिकाय का आकाश व द्रव्य, क्षेत्र काल भाव नहीं है। इसलिये उनकी अपेक्षा नास्ति रूप है। मैं केवल जीव हूँ परवस्तु नहीं हूँ। अपने में अपना तत्व है। उसी में सर्व परका असत्व है ऐसा भेद विज्ञान पूर्वक ज्ञान होनेही से अपने जीव जीवयत्व का ज्ञान होगा।

इसलिये हे जीव तू ऐसे जान कि यह सभी अपने अन्दर ही होने के कारण आप ही मानने वाले होने के कारण आप ही अपने को गुरु है अन्य कोई नहीं ऐसे तू जान।

और भी जो द्रव्य के अन्दर गुण है वे भी अपने अंदर ही है।

(१) आस्तित्व—अपनी सत्ताको सदा रखना। द्रव्य न कभी जन्मा है न कभी नाश होगा। अनादि अनन्त है।

(२) वस्तुत्व—प्रयोजन भूतपना। कोई द्रव्य निरर्थक नहीं है

(३) प्रव्यत्व—सदा परिणामन करते रहना। यही यह स्वभाव द्रव्य में न हो तो उसके द्वारा कोई कार्य नहीं।

(४) प्रमेयत्व—किसी के द्वारा जान जाना । यदि कोई जानने वाले न हो तो उस द्रव्य का होना प्रगट नहीं होना हो सकता है ।

(५) अगुरु लघुत्व—एक ऐसा गुण जिसके कारण परिणमन करते हुये भी द्रव्य अपने स्वभाव कम या अधिक नहीं कर सकता है । जिसने गुण या स्वभाव जिस द्रव्य में होंगे वे सदा वने रहेंगे। उनमें न एक गुण वढ़ेगा न कोई गुण कम होगा ।

(६) प्रदेशत्व—क्षेत्र पना हर एक द्रव्य का कोई आकार अवश्य होगा । मूर्तिक अमूर्तिक द्रव्य का अमूर्तिक आकार होगा । ये छः सामान्य गुण जीवादि छहों द्रव्यों में पाए जाते हैं जीवतत्व के भीतर विशेप गुण जीव में ही पाए जाते हैं। वे मुख्य होते वे मुख्यज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, हैं । पुद्गल की अपेक्षा जीव में अमूर्तत्व भी विशेप गुण है । सर्व मानने योग्य एक साथ जान रहे वह ज्ञान है ।

इस प्रकार ये सभी गुण अपने भीतर ही है अन्य ये नहीं हैं । यह वात भव्य जीवों को आपने समझाकर कहा कि हे भव्य जीव अपने को आप ही गुरु से अन्य आपको कोई गुरु नहीं है परन्तु हे दया निधान ! इस मोक्ष मार्ग या शुद्धात्मा की अनुभव कराकर स्वयं आपही गुरु है इस वात को समझाने के कारण से भगवन्त हमको आप ही गुरु हैं, कहा भी है किः—

गुरुर्जनपिसा तत्वज्ञान गर्भःसंस्कृतः ।
तथा तयावती गोंऽसौ भव्यात्मा धर्म जन्मना ॥

गुरु पिता है, तत्वज्ञान सुसंस्कृत गर्भ है, और उसमें धर्म रूपी जन्म से यह भव्यात्मा अवतार ग्रहण किया है।

जब गुरुके उपदेश से मिथ्यात्व तथा अनादि कालका अविद्या छूट जाता है जब छूट जाता तब गुरु चरणोंमें रहकर उपदेश ग्रहण करता है और उनके द्वारा मोक्ष मार्ग या निजात्म स्वरूप की प्राप्ति क्षण में कर लेता है, और संसार रूपी बन्धन से छूटकारा पाकर अखंड सुख को देने वाले ऐसे स्थान पाकर बैठ जाता है। इसलिये निर्वाण लक्ष्मी पती सिद्ध परमात्मन् भव्यात्मा संसारी जीव को आपही गुरु है।

जीवात्मा को जीवात्मा ही शरण है, अन्य कोई नहीं ।

पिरिदप्पोंदु वनातंराळदोळगिंविल्ला गिविर्दिद सिंह ।
दुरदंती भवदोळ् स्वकर्म वशदिं विर्दिद जीवनं ॥
पररेत्तलनेरेवन्न रापोंणदु तन्नं ताने सोत्साहना ।
दरदिंदेत्तदो डेंबुदुं निजमतं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥ ७ ॥

अर्थ—निर्वाण लक्ष्मीपति हे अरहंत भगवान ! यह भयानक ऐसे एक जंगल के बीच में कोई भी सहायक या अत्यंत निकृष्ट घनघोर जंगल में उठ न पाये ऐसी स्थान में पड़ा हुआ हाथी के समान अपने कर्म वश होकर संसार रूपी जङ्गल में भ्रमण करने वाले इस जीवको उद्धार करने वाले अन्य कोई भी सहायता देने वाले नहीं हैं। यही कहने का आपका तात्पर्य है, क्योंकि जैसे महान खाई में पड़ा हुआ हाथी को अन्य कोई उस स्थान में जाकर उठाना असम्भव है और आपहीं अपने शक्ति के वल के द्वारा उठना पड़ता है, इसी तरह यह आत्मा महा घनघोर भयंकर ऐसा संसार रूपी खाई में पड़ने के कारण इनको अन्य कोई सहायता पहुँचा नहीं सकता, इसलिये यह आत्मा अपने वल के द्वारा प्रयत्न के साथ अपने को आपही उद्धार कर सकता है अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार अपने जीवात्मा को समझाया है ॥ ७ ॥

विवेचन—भगवान् का यह उपदेश है कि हे जीव ! तू आनादि

कालसे ऐसे सघन जंगल के बीच महान गड्ढे में पड़ा हुआ हाथी को निकाल देने में सहायता नहीं पहुँचा सकता है, अगर अपने ही बल के द्वारा निकल कर ऊपर आने की कोशिस करेगा तो ऊपर आ सकता है, नहीं तो निकालने में सहायता कभी नहीं मिल सकती है। इसी प्रकार अनादि काल से जीव तू मोहांध रूपी सघन जंगलके बीच गड्ढेमें पड़ाहै कोई भी उसमें आकर सहारा न पहुँचाने वाले ऐसे स्थान में पड़ा हुआ है। इसलिये ऐसे महान संसार रूपी मोहांधकार में आप पड़े हुए हैं, उसमें आपको सहायता पहुँचाने वाले अन्य कोई नहीं हैं। अगर आप ही अपने बल के द्वारा उद्यम किया जाय तो आप इस महान संसार रूपी मोहांधकार कूप से निकल जा सकते हैं। इसलिये हे जीव तू शीघ्र ही उद्यम करके इस संसार रूपी सघन जंगल से निकल कर अपने स्थान को पहुँच, जाओ। क्योंकि आप दूसरे के भरोसे रहेंगे तो कोई आपको सहायता पहुँचाने वाले नहीं हैं। फिर भी अंतमें आपको ही उद्यम करना पड़ेगा यह जानकर दूसरे कुटुंब इत्यादि परिवार वालों की आशा मत करो। कहा भी है किः—

शरणम् शरणं वो बंधवो बंधमूलं ।
चिरपरिचित दारा द्वार मापद् गृहाणाम् ॥
विपरि मृशत पुत्रः शत्रवः सर्व मेतत् ।
त्यजत भजत धर्म निर्मलं शर्म्म कामाः ॥

भाव यह है कि जिसे हम शरण समझते हैं वे अशरण हैं वे रक्षा नहीं कर सकते, जो बंधु जन हैं वे बंध के कारण हैं।

चिरकाल से जानने में आई स्त्री अपत्ति रूपी घरों का द्वार है और पुत्र हैं सो शत्रु हैं अच्छी तरह विचार करो। तव इन सभी को छोड़ो और सच्चे सुख की यदि वांछा हैं तो निर्मल धर्म की अराधना करो।

अज्ञान की चिरकाल वासना से यह अज्ञानी शरीर को थिर मान लेता है। स्त्री पुत्रादि को अपना परम प्रिय मान लेता है। वस उसके मोह में भूला हुआ अपने ऊपर क्या २ कष्ट आने वाले हैं उनको नहीं विचारता, कम से कम मरण तो आने वाला ही है। पर उसका कुछ भी चिन्तवन नहीं करता।

पर की विपता देखना अपनी देखे नाहिं।
जलता पशु जा वन छिपे, जड़ तरुवर ठहराहिं॥

अव शिष्य फिर प्रश्न करता है कि—भगवन्! इसका क्या कारण है जो निकट आई भी, आपत्तियों को यह मनुष्य नहीं देखता है? गुरु कहते हैं कि हे वत्स! धन आदि पदार्थोंमें अतिशय गृद्धता होने से आने जाने वाली आपत्ति को धनी लोग नहीं देखते हैं। जैसे किः—

आयुर्वृद्धि क्षयोत्कर्ष हेतु कालस्य निर्गमं।
वांछतां धनिनामिष्ट जीवितात्सुतरां धन॥

इस श्लोक में आचार्यों ने धनवानों में धन की जो भारी गुरुता दिखलाई है। क्योंकि धनवान को धन की ज्यादा गृद्धता रहती है, वह है वहुत वुरी चीज है। एक समय की वात यह है कि एक नगर में एक धनिक महाजन रहता था। लोग उनको हमेशा महाजन के नाम से पुकारा करते थे। उन्हीं के घर में एक नौकर

रहता था। उनके मन में यह भाव हुआ कि मैं भी महाजन बनने की कोशिस करूँ। ऐसे मन में विचार कर एक दिन उन्होंने अपने मालिक महाजन से पूछा कि मालिक मैं भी महाजन बनना चाहता हूँ कहिये तब महाजन ने कहा ठीक है। तब नौकर ने कहा कि मेरे पास धन नहीं है कहाँ से लाऊँ! आपही दीजियेगा मैं आपके यहाँ चार पाँच साल नौकरी करूंगा। तब महाजन ने कहा ठीक है। तब नौकर ने महाजन के यहाँ चार पाँच साल नौकरी किया और बाद में कुछ रुपया जुड़ा करके कहने लगा कि अब मुझको महाजन बनना है। अब इस रुपया से खेती खरीद लूं। तब उन्होंने किसी सेठ सहूकार से पूछने लगा कि मेरे को सौ बीघा जमीन खरीदना है और मेरे पास पाँच छः हजार रुपया है। कहिये कि सेठ साहब यहाँ इतने रुपया में खेती मिलेगी? तब सभी सेठ लोगों ने कहा कि यह मिलना बहुत मुश्किल है अगर आप मारवाड़ प्रांत में चले जावो वहाँ जितना चाहिये उतना मिल जायगा। तब उन्होंनें मारवाड़ प्रान्त में जाकर किसी एक रईस के पास जाकर जिकर किया कि मुझको पाँच हजार में खेती खरी- दना है कहा कि पाँच हजार में कितने बिघा खेती आयेगी तब तक श्रीमान् ने कहा कि पाँच हजारमें जितना तुम सवेरे से शाम तक चलोगे। उतनी खेती मिल जायगी। यह बात सुनकर नौकर मन में खुश होकर दूसरे दिन अभी दिन निकलने में कुछ कुछ बाकी था जल्दी उठकर एकदम भागना शुरुवात किया। भागते भागते उनको खाने पीने की भी याद नहीं रही बिचारा शाम तक दौड़ता ही रहा। अनन्तर दिन डुबने में कुछ बाकी था तब सोचने लगा

कि अगर मैं इस समय धीरे-धीरे दौड़ूंगा। तो जमीन कम पड़ेगी इसलिये इससे भी ज्यादा दौड़ना चाहिये ऐसा समझकर दौड़ने लगा। रुपया अपने कमर में बँधा तो था। विचारा दिन भर भूखे रहने के कारण थक गया था। और बड़ा व्याकुल के मारे दौड़ने में कमजोर हुआ और ज्यादा थककर दौड़ते हुये ठोकर खाकर जमीन पर गिर पड़ा। जहाँ गिर पड़ा वहाँ ही उनका प्राण पक्षी उड़गया और जो उन्होंने पाँच हजार की थैली अपने कमर में बंधा हुआ था वहींका वहीं रहा। सार यह है कि तृष्णाके मारे जब दौड़ा और थककर गिर पड़ा तब उन्होंने सवेरे से शाम तक दौड़ कर कितना जमीन खरीदा अर्थात् जिन्दगी भर कमाई करके आयु के अवसान में साढ़े तीन हाथ की जमीन खरीदा।

यह मनुष्य धन के पीछे स्व ईस पर का कल्याण करने का ख्याल न रख कर अपने को अशरण अर्थात् जो अपने को अन्त समय में तथा इह परलोक में सहायता देने वाले स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब-महल-मकान-सम्पति-दास-दासी इत्यादि के लिये रात दिन धन कमाने के लिये दौड़ते हुये भी अन्त में यह सभी साथ न देकर सभी अलग होते हैं। इसलिये यह सभी स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब संपति यहां के यहां पड़े रहने के कारण ये सभी अपने को अशरण हैं। शरण नहीं हैं। इसलिये हे जीव! तू अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले तथा अपने सुख की कामना करने वाले दूसरे कोई भी नहीं हैं। आप अपने को आपही सहायक है। इसलिये आप अपने को उद्धार करने के लिये आपही अपने वल के द्वारा प्रयत्न करने की कोशिस करो। कहा भी है कि—

रे जीव ! त्वं विमुचं क्षण रुचि चपला निंद्रियार्थोपभोगा।
ने मिदुःख न नीतः किमिह भववनेऽत्यंत रौद्रे हतात्मन ॥
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेऽद्यापि पापात्मकेभ्यः।
संसारात्य दुःखात्कथमपि न तदा मुग्ध ! मुक्ति प्रयाते ॥

हे दुर्बुद्धि मूर्ख जीव ! तू इन क्षणभर चमकने वाले बिजली के समान चंचल इन्द्रियों के योग पदार्थों को त्याग दे, क्योंकि संसार भर में कौनसा अति भयानक दुःख है। तुझे इनके संग में नहीं मिला, हे निर्बुद्धि यदि आज भी इन तू पापी भोगों से अपने चित में तृष्णा को नहीं हटाता है। तो हे मूढ़ ! किस तरह अत्यन्त दुःख मय संसार से मुक्ति करेगा ? इस तरह यह खूब ध्यान में जमा लेना चाहिए कि धनादि परिग्रह और विषय भोगों के संग से यद्यपि देह का उपकार है व दानादि करने से कुछ पुण्य बंध है तथापि आत्मा का हर तरह अहित ही होता है ? आत्मा का हित तप ध्यान वैराग्य से है जिनसे शरीर का हित नहीं होता ? ऐसा जान शरीर के मोह में पड़कर धनादि की वांछा नहीं करनी चाहिए तथा जीव का उपकार जो धर्म है उसी में प्रीति रखना चाहिए। और उसी का उद्यम करना चाहिए। तब आपका उद्धार आप ही कर लेगा अन्य सहायता देने वाले आप को और कोई नहीं हैं—

आत्मज्ञान शून्य मिथ्या तपस्वी इससंसार से मुक्ति नहीं पाता है।

ई संसारमुमात्मविभ्रमदिमात्मविज्ञानदिं ।
दी संसारदोळिपुं दागददरिंदात्म प्रबोधेतरा ॥
भ्यासर्वाह्य तपः प्रपंचमनेनिच्चं माडुतिदुं समं ।
ती संसारदे पिंगरेंदरिपिदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥८॥

हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति सिद्ध भगवान् ! यह जीव अपने विभ्रम या मिथ्यात्व से संसार की वृद्धि करता है। और आत्मपरिज्ञान से संसार से निवृत्ति (मोक्ष) भी प्राप्त होता है। और जो जीव मिथ्यात्व में ही हमेशा रत होकर मिथ्या तपस्या इत्यादि को करने वाले कभी भी इस संसार से मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकते हैं ऐसे आपने इस जीवात्मा को समझाया ॥८॥

विवेचन—यहाँ पर भगवान ने अज्ञानी जीवों को समझाया है कि जैसे कोई तीव्र नशे में होता है तो वह अपने स्वरूप को और का और मानता है अपनी माता को स्त्री और स्त्री को माता मानने लगता है। मद्य के निर्वित से ज्ञान विपरीत हो जाता है। उसी तरह संसारी आत्मा के अनादि काल से ही मोहनीय कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है। जिसमें अनादि से ही इसका ज्ञान विपरीत हो रहा है इसी विपरीत बुद्धि के कारण यह अज्ञानी जीव शरीर आदि पदार्थों के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं मानता है। जो इंद्रिय भोग तृप्ति को नहीं करते तथा वियोग होने पर दुःख होते व चाह

की दाह को बढ़ाकर आकुलित कर देते हैं उन्ही को सुखदाई मान रहा है। और जो अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन अपने ही पास है उसकी उसे कुछ भी खबर नहीं है। इसमें जो दोष उसके तीव्र मित्थात्व के तीव्र उदय है। कहा भी है किः—

अविद्या संज्ञितस्तस्मा त्संस्कारो जायते दृढ़।
येन लोकोऽङ्गमेवस्वं पुनत्यभि मन्यते॥

भाव यह है कि अज्ञान मई अभ्याससे ऐसा दृढ़ श्रद्धान होता जाता है कि जिसमें यह जन वार वार अपने शरीर को ही आप रूप मानकर बैठ जाता है और खुद ही रागी द्वेषी मोही होते हुए अनेक पर पदार्थ को अपने मानकर इकट्ठा करता है। स्त्री पुत्र मित्र कुटुंबादि के ममत्वभाव करता है। उनके विपरीत अनेक पापों को उपार्जन करता हुआ संसार की वृद्धि करते हुये जन्म मरण को प्राप्त होते हुए चारों गतियों में भ्रमते हुये अनेक दुःखों को सहता है। और वे ही स्वपर तत्व के ज्ञान के द्वारा संसार से निवृत्ति हो कर मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। कहा भी है किः—

एवं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं।
सगयं णियं अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी॥

स्वपरतत्वः—स्वपर तत्व का विचार—सात तत्वों के भीतर जीव तत्वसार है इस जीव तत्व में जो संसार में भ्रमण के कारण मिथ्यात्व कर्म से मलिन आत्माएँ हैं। उनको ध्यान में न लेकर जो मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ शुद्ध चारित्र वान आत्माए हैं। उनको यहाँ पर तत्व कहा गया है। तथा अपने ही शुद्ध आत्मा को स्वतत्व कहागया है। जिस तत्व के अनुभव से मोक्षमार्ग की सिद्धि हो ऐसा

तत्व निज शुद्धात्मा है। जब शुद्धात्मा का ध्यान, ज्ञान तथा अनुभव किया करता है। तब स्वानुभव उत्पन्न होता है। इसलिये वीतरागता होती है। जो अग्नि के समान कर्मों को जलाती है और आत्मा को पवित्र करती है। जिसके द्वारा साधक भव्य जीव अपने भावों को धर्म भावनामें स्थिर रखनेका अभ्यास करे व अपने ही शुद्धात्मा की ओर पहुंच जावे। ऐसे परतत्व पांच परमेष्ठी हैं। जगत में परमइष्ट व परम पद में रहने वाले पांच उत्कृष्ट पद हैं। जिसको सर्व ही इन्द्र धरणेंद्र, चक्रवती आदि नमस्कार करते हैं। शास्त्र में सौ इन्द्र की गिनती इस प्रकार है।

भावनालय चालीसा व्यन्तर देवान जोति वत्तीसा।
कप्पायर चौव्वीसा चंदो नरो सुरो तिरिओ॥

भवनवासी देवों के चालीस, व्यंतर देवों के वत्तीस ज्योतिषी देवों के दो सूर्य व चन्द्र, कल्पवासी देवों के चौवीस, मानवो में चक्रवर्ती, पशुओंमें अष्टापद ये सौ इन्द्र इन्हीं पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार करते हैं। इनमें अरहन्त, सिद्ध परमात्मा हैं। आचार्य उपाध्याय, साधु अन्तरात्मा है या परमात्मा है। जो चार घातियाँ कर्मों को शुक्लध्यान के द्वारा नाश करके पूजने योग्य हो जाते हैं। उनको अरहन्त कहते हैं। इन कर्मों के क्षय से नौ लब्धियां या शक्तियाँ प्रकाशमान हो जाती हैं। ज्ञानावरण के नाश से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के नाश से अनंत दर्शन, मोहनीय कर्म के नाश से क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक चारित्र, अन्तराय कर्म के नाशसे अनन्तदान, अनन्त लाभ अनंत भोग, अनंत उपयोग, और अनन्त वीर्य। आयु नाम गोत्र, वेदनीय चार अघातिया कर्मों के

उदय से जो अभी शरीर में है, उनको अरहन्त कहते हैं। इनमें जो तीर्थंकर पदधारी महान पुण्यात्मा हैं उनके पुण्योदय की विशेषता से इन्द्रादि देव समवशरण की रचना करके उनके महात्म्य का प्रकाश करते हैं। वे विशेषरूप से विहार करके धर्म तीर्थ का प्रचार करते हैं।

जो तीर्थङ्कर नहीं होते हैं। सामान्य पुरुष केवलज्ञानी अरहन्त होते हैं उनकी गन्धकुटी रची जाती है। सर्व ही अरहंत परमोदारिक शरीर धारी होते हैं। शरीर का परिवर्तन क्षीण मोह बारहवें गुण स्थान में हो जाता है धातु उपधातु पककर कपूर के समान शुद्ध हो जाता है। शरीर बहुत ही हलका हो जाता है। जैसे रत्नादि पाषाण रसायन द्वारा भस्म रूपमें बदल जाते हैं वैसे ही शुक्ल ध्यान की अग्नि से अस्थि माँसादि सब शुद्ध पक्व रसरूप हो जाते हैं। ऐसे शरीर के लिये अन्न व दूध आदि पदार्थों के खाने की आवश्यकता नहीं रहती है। अरहन्त भगवान के मोह के नाश होने से मैं निर्बल हूँ ऐसी न तो ग्लानि होती है न भोजन करने की इच्छा होती है।

वेदनीय कर्म का उदय मोहनीय कर्म की सहायता से सुख व दुःख का भाव पैदा रहता है। मोहके क्षयसे क्षुधा की वेदनाका कष्ट नहीं होता है न क्षुधा मिटने से तृप्ति का सुख होता है अरहंत का आत्मा वीतराग व अनन्त ज्ञानी होने से निरन्तर स्वस्वरूप में मग्न रहकर स्वात्मानन्द का निरन्तर भोग करता है, और हमेशा सुखी होकर मोक्ष लक्ष्मी सुख का अनुभव वही संसार में चारों

गतियों में भ्रमण करने वाला जीव चिरकाल तक सुख सागर में मग्न रहकर अन्योन्य मोक्षलक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न रति सुख का आस्वाद करते हुये स्थिर रहता है।

इसके विपरीत निजात्मज्ञान से शून्य अज्ञान अविद्या मिथ्यात्व के उदय के निमित्त से अनेक मिथ्या तपश्चर्या करने वाले जो जीव कभी भी संसार परिभ्रम से मुक्त नहीं होते हैं वे हमेशा संसार में भ्रमण करते रहते है।

शिष्य प्रश्न करता है कि:—हे भगवन्! यह मोक्ष में तो सुखी रहता ही है परन्तु यदि संसार में भी सुखी रहे तो क्या दोष है? तब संसार को दुष्ट व त्याज्य क्यों कहना चाहिये? और सर्वजीव सुख की ही तृप्ति की इच्छा करते हैं। वह जब संसार में भी मिले तो क्यों सन्त पुरुष इस संसार को छोड़ने का यत्न करते हैं?

भगवान् उत्तर देते हैं:—

विपद्भवपदावर्ते पद के वाति वाह्यते।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥

संसार रूपी पग से चलाए जाने वाले घटिका यन्त्र में अर्थात् ऐसे संसारमें जो घटिका यन्त्रके समान बार-बार हिर फिरके चक्कर रूप घूमता है जब तक इस जीव के द्वारा सहज अकस्मात् आई हुई शारीरिक मानसिक आपत्तियों के मध्य में एक कोई विपत्ति घटि यन्त्र में पैर से चलाए जाने वाली लकड़ी के समान अति क्रमण की जाती है हटाई जाती है। इतने ही में दूसरी बहुत सी आपत्तियां इस जीव के सामने आ जाती हैं। इस लिये इस संसार में सुख नहीं है सुखाभास है। इसलिये हे

शिष्य ! यह जानो कि संसार में बिरन्तर एक न एक विपत्ति रहती है जो एक मात्र दुःख को ही देने वाली है, इसलिये इस संसार का अर्थात् पंच परिवर्तन रूप भ्रमण का अवश्य नाश कर डालना चाहिये ।

आत्म ज्ञान सहित ज्ञानी जीव क्षणमात्र भी आत्मज्ञान में रत होने से शीघ्र ही मोक्ष को पाता है।

भववारासि योळाळ्वरात्म विमुखर्बाह्य क्रियाविन्हळर् ।
स विशेषात्म विवेकरप्पवर्गळु स्वात्मस्थरज्ञादोडं ॥
तवरुं मग्नरे नेट्टनिसुवरदं दुष्कर्मकांडप्रमा ।
दविरदूर्स्वंगतक्कं ळेंदरिपदै निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥९॥

अर्थः—हे निर्वाण मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान् ? आत्मज्ञान से रहित यह अज्ञानी जीवात्मा वाह्य क्रिया में मग्न होकर इस संसार रूपी समुद्र में हमेशा दुःख या कष्ट भोगता रहता है। परन्तु इसके विपरीत आत्मपरिज्ञानी विवेकी जीवात्मा आत्मध्यान को नहीं करने पर भी इस संसार समुद्र में भटकते हुए दुःखी होगा क्या ? नहीं। ऐसे जीव क्षण मात्र में भी एकाग्रता से प्रमाद रहित होकर अपने आत्मध्यान में लीन होते हैं। इस प्रकार आपने समझाया ॥९॥

विवेचनः—आत्मज्ञान से रहित यह अज्ञानी जीव वाह्य क्रिया में हमेशा मग्न रहता है और इस संसार समुद्र में हमेशा भ्रमण करते हुए अनन्त दुःखों को उठाता है। और आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव संसार समुद्र में भ्रमण करते हुए भी दुःख उठायेगा ? नहीं क्योंकि क्षणमात्र प्रमाद रहित होकर आत्मध्यानमें लीन होता है।

तो अनन्त सुख का अनुभव कर लेता है तथा सुखी होता हैं ऐसा जीव कभी दुःखी होगा ! नहीं कहा भी है कि:—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुरन्ये।
स्वयमेव परिणामंतेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

यहाँ पर भगवान ने यह बतलाया है कि जबतक यह अज्ञानी जीवात्मा कर्मों के उदय के आधीन होकर वर्तन किया करता है। तबतक यह निरंतर कर्मों का संचय करता है। क्यों कि अज्ञानी आत्मा की चाहना कर्म के प्रपंच जाल में ही रहता है। उसे अपने जीवन की खबर नहीं होती है। वह पुद्गल के आधीनहोता हुआ पर समय रूप वहिरात्मा रहता है इसलिये संसार की चाह के कारण संसार के कारण कर्मों को बांधा करता है। प्रयोजन यह है कि कर्म अपनी संतान को बढ़ाते रहते हैं जैसे कोई अज्ञानी मनुष्य मद्य को पोकर दुःख उठाता है तब भी मद्य को जबतक हितकारी समझता है तब तक मद्य को वार वार पीता हुआ मद्य की संतान को वढ़ाता है। रागी मिथ्या जीव की भी यही दशा है। मोह मद्य को पिये हुये वह निरंतर मोह के वशीभूत हो कर्मों का अधिक संचय करके मोह को कारणी भूत देहादि पदार्थों को वार वार प्राप्त करता है। अज्ञानी जीव में मोह कर्म की वलवता होती है। उसके भीतर जीव का पुरुषार्थ विलकुल दब रहा है। इस लिये वलवान मोह अपने वल को वढ़ाता है। आचार्य कहते हैं कि:-

परोप कृति मुत्सृज्य स्वोपकार परो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्य मानस्य लोकवत् ॥

हे अज्ञानी जीव ! तू तत्व ज्ञान से शून्य होता इन दिखाने वाले या इन्द्रियों से अनुभव में आने वाले अपने आत्मा के स्वभाव से सर्वथा ऐसे देह आदि पदार्थों का उपकार कर रहा है सो अब तू लौकिक जन की तरह जैसे कोई आदमी पर को पररूप न मानता अर्थात् उसे अपना सगा भूल से मानता हुआ उसके साथ भलाई करता रहता है, परन्तु जब वह ठीक ठीक बात जान लेता है तब उसके उपकार को छोड़कर अपने हीं हित में लग जाता है। उस तरह पर जो कर्म बन्ध या शरीरादि जिनके साथ तू अज्ञान वश उपकार कर रहा है उस उपकार को यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से त्याग कर अपने आत्मा के उपकार में तत्पर हो।

भगवान कहते हैं कि ! पुद्गल को अपने मानकर भारी धोखा अनादि काल से इस जीवन में खाया है। अपने हित की तरफ अनेक उपदेश सुनने पर भी ध्यान नहीं दिया। किन्तु जो अपने अहित कारी ये उसही के मोह में पड़कर उनके उपकार में रत हो कर अपना अपकार किय। अब ज्ञान नेत्र के विचार से अपनी भूल मिटाकर यथार्थ मार्ग का अनुशरण करना चाहिए।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि:—

हे भगवन्। किस उपाय से आत्म और पर का भेद विशेष करके जाना जाता है तथा जान करके ज्ञान को किस फल की प्राप्ति होगी ?

गुरुपदेशादभ्यासात्संवितेः स्वपरांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्ष सौख्यं निरन्तरम् ॥

भगवान कहते हैं, कि जो कोई गुरु के उपदेश से, भावना के अभ्यास व स्वातु भाव से आप पर के भेद को जानता है वह महात्मा निरन्तर मोक्ष सुख को अनुभव करता है।

जैसे किसीके पास दियासलाई अपनेजेब में रखीहो तो उनको अपने घर में बहुत दिन के कूड़े कचरे को जलाने में देरी नहीं है। परन्तु जिनके पास दियासलाई का साधन नहीं है उनके लिये मात्र उस कचरे को जलाना मुश्किल पड़ता है। उसी तरह जिस भव्य ज्ञानी के पास स्वपर ज्ञान का साधन मौजूद है उनके लिये कोई चिन्ता नहीं है। संसार रूपी कचरे में रहने पर भी ज्ञान रूपी दियासलाई के द्वारा कर्म रूपी कचरे को क्षण मात्र में नष्ट कर आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। परन्तु अज्ञानी मोही जीव संसार में रहकर हमेशा दुःख ही भोगता है क्योंकि ज्ञान हीन होने के कारण तथा स्व पर के पहचान के विना व्रत तप पूजा दान इत्यादि करने पर भी आत्मानुभव की सिद्धि विना उनके सभी क्रिया व्यर्थ ही होती है। और फिर भी दीर्घ संसारी होकर अनंत काल तक दुःख ही दुःख भोगता है सुख नहीं। इसलिये संसारी जीव आत्म ज्ञान से शून्य होने से आत्म सुख प्राप्त नहीं कर सकता और ज्ञानी संसार में रहते हुए भी क्षण मात्र में आत्म सुख की प्राप्ति कर सकता है।

—:o:—

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के एकता बिना मोक्ष की पूर्णता नहीं हो सकती है।

समय ज्ञानदे सिद्धियागददरोळ् श्रद्धान मिल्लादोडा।
समय ज्ञानमु मल्लिनं वुगेयु मुंटागिदोंडं शुद्धसं ॥
य ममिल्लादोडमेतुँ मागददरिं रत्नत्रयं सिद्धियुं।
समनिक्कु मुनिगेदुं नीं वेससिदै निर्वाण लक्ष्मीपती! ॥१०

अर्थ—हे निर्वाण मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान्! अपने आत्माके श्रद्धान केबिना मोक्ष की प्राप्ति नहींहो सकतीहै इस लिये आत्मा के ऊपर आत्मा का परिज्ञान चाहिए, यह दोनों होने पर भी आत्म ध्यान की सिद्धि निश्चय चारित्रके विना रत्नत्रय की पूर्ति नहीं हो सकती। इसलिये यह तीनों निश्चय सम्यक्दर्शन ज्ञान, चारित्र, अवश्य चाहिये ऐसा आपने भव्य जीवात्मा को समझाया है ॥१०॥

विवेचनः—आत्मा के ऊपर श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी चारित्र विना रत्नत्रय की पूर्ति नहीं हो सकता है। क्योंकि इन तीनों को अगर अलग अलग मानेगे तो गधे के सिंग के समान असम्भव होगा। क्यों कि अगर ऐसे मानोंगे तो पदार्थ नित्य ठहरेगा, जैसा अग्नि और उष्णता अलग २ होनेपर भी द्रव्यार्थके अपेक्षा से एक है अग्नि और उष्णता का परस्पर भेद मानने से अगर उष्णताको अलग किया जाय तो अग्नि या उष्णता दोनों

का अभाव हो जाने से असंभव दोष आवेगा। इसलिये अग्नि और उष्णता का पर्यायार्थिक नय से अलग और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक ही है। इसी प्रकार जीव का स्वभाव ज्ञान दर्शन चारित्र लक्षणों से एक है और पर्याय अपेक्षा से तीन प्रकार है। जब तीनों मिलकर पूर्ण होंगे तब रत्नत्रय की पूर्ति हो सकती है कहा भी है:—

न सर्वथा नित्य मुदेत्य पैति नच क्रिया कारकमत्रयुक्तम्।
नैवा सतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गल भावतोऽस्ति।

सर्व प्रकार से वस्तु नित्य ही है एक रूप हो रहने वाली है। ऐसा एकान्त मान लेने से न उसमें कोई अवस्था प्रगट हो सकती और न किसी अवस्था का नाश हो सकता है। यदि योग, सांख्य व मीमांसकों के अनुसार तत्व को सर्वथा नित्य ही माना जावे अथात् जैसे वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वैसा ही वह पर्यायकी अपेक्षा भी नित्य कल्पना की जावे तब उत्पत्ति व विनाश सम्भव नहीं है। आगे की अवस्था का स्वीकार व पिछली अवस्था का नाश हो नहीं सकता। यदि वस्तुमें क्रिया व कारक होंगे तो उत्पाद व्यय स्वभाव रहना ही चाहिए परन्तु यहाँ सर्वथा नित्य मानने से न तो गमन आदि क्रिया हो सकती है न कोई कर्ता कर्म करण आदि कारक हो सकते हैं। जो जैसा है वह वैसा ही रहेगा जो गमन करता होगा वह गमन ही करता रहेगा जो ठहरा होगा वह ठहरा ही रहेगा। उसने यह काम किया, यह करेगा यह कोई कारक नहीं बनेगा। जैसा सर्वथा नित्य मानने में उत्पत्ति व विनाश नहीं बनता है वैसा ही सर्वथा अनित्य या क्षणिक मानने से भी नहीं

बन सकता क्यों कि जो वस्तु आकाश के फूल के समान है ही नहीं उसका जन्म हो नहीं सकता और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि दीपक जल रहा है उसको बुझा दिया जाय तो प्रकाश का सर्वथा नाश हो ही गया उसका समाधान करते हैं कि प्रकाश अन्धकार रूप पुद्गल रूप से रहता है। प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गल की पर्याय हैं। प्रकाश की अवस्था में जो पुद्गल द्रव्य था वही अन्धकार के रूप में हो जाता है। मात्र पर्याय पलटती है, पुद्गल का नाशनहीं है।

इस श्लोक में यह भाव झलकाया है कि सत् पदार्थ का न सर्वथा नाश होता है न असत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त अखण्ड है। तथापि जगत में उत्पत्ति व विनाश तो देखने में आता है। एक दूध से दही बना तब दही की उत्पत्ति हुई दूध का नाश हुआ। एक सुवर्ण के कुण्डल को तोड़कर कड़ा बना। तब कुण्डल विनाश करके कड़ा बना। ऐसे कर्मोंके होने में मात्र अवस्था या पर्याय पलटी है। जिस द्रव्य में अवस्थायें हुयीं वह ध्रुव या नित्य है। गोरस में दूध व दही की अवस्थायें पलटीं गोरस दोनों में है। सुवर्ण में कुण्डल व कड़े की अवस्था पलटी सुवर्ण दोनों में कायम है। इससे यह सिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा न नित्य है न अनित्य है वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है वही पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य माना जावेगा तो कोई भी कोई काम न कर सकेगा। तब जगत में कोई भी काम न होगा। सब एक से ही रहेंगे जो चलता है वह चलते हीरहेगा कभी ठहरेगा नहीं। जो ठहरा है वह कभी चले ही नहीं। जो सोता है वह

सोता ही रहेगा, जागता है वह जागता ही रहेगा। न रूई का सूत बनेगा न सूत का कपड़ा ही बुना जायगा न कपड़े से कोट बनेगा इसी तरह यदि सर्वथा वस्तु को अनित्य माना जायगा तो नाश के पीछे कुछ भी रहना न चाहिये सो ऐसा देखने में नहीं आता। यदि कपड़े को जलाया जावे तो राख की उत्पत्ति हो जाती है। यदि मकान को तोड़ा जाये तो लकड़ी ईंट आदि रूप में प्रगट हो जाते हैं। यदि प्रकाश को नाश किया जाय तो अन्धकार रूप में हो जाता है। सर्वथा उत्पत्ति व सर्वथा नाश तो किसी का होता ही नहीं। जो पदार्थ होगा उसी में उत्पत्ति अवस्था मात्र की होगी और जब किसी अवस्था की उत्पत्ति होगी तब पहली अवस्था का नाश अवश्य होगा उत्पन्न होना भी अवस्था का ही है नाश होना भी अवस्था का ही है। जिसमें ये दोनों बातें होती हैं। वह द्रव्य बना रहता है। सर्वथा वस्तु नित्य है व सर्वथा क्षणिक है दोनों ही बात सिद्ध नहीं हो सकती वस्तु नित्य अनित्य उभय रूप है। यह अनेकान्त सिद्धान्त, हे सुमतिनाथ! जो आप का है सही होता है सामान्य द्रव्य कभी उपजता नहीं, सदा बना रहता है। इस कारण तत्व नित्य है। उसमें विशेषपना या पर्याय पना होता है इससे रहित अनित्य भी है। ऐसा ही स्वामी ने आप्त मीमांसा में भी बताया है:—

यदि सत् सर्वथा कार्यं पुवन्नोत्पत्तु मर्हति।
परिणाम प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त बाधिनी॥
यद्य सत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
नोपादान नियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि॥

न सामान्यात्म नोदेति नव्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रो दया दिसत् ॥

यदि सर्वथा सत् रूप या नित्य रूप माना जावे तो जैसे पुरुष व आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है वैसे किसी घटपट आदि कार्य की भी उत्पत्ति न बने। नित्य पक्ष का एकान्त मनन से अवस्था की पलटने की व्यवस्था बन ही नहीं सकती और यदि सर्वथा वस्तु असत् मानी जाये अर्थात् क्षणिक भी सो नाश हो गई ऐसा मान जावे तो भी कोई कार्य नहीं होगा। जैसे आकाश में से फूल नहीं होते वैसे घटपट आदि काम न बनेंगे न यह नियमं ही रहेगा कि उपादान कारण के समान कार्य होता है। अर्थात् जैसी मिट्टी होगी वैसे उसके वर्तन बनगे। सुवर्ण जैसा होगा वैसा कड़ा बनेगा और जब वस्तु क्षणिक बन जायगी तब यह निश्चय भी नहीं बन सकेगा कि इससे अमुक कार्य हो सकेगा जब यह निश्चय ही न होगा कि गेहूँ से रोटी बन सकेगी तो कौन गेहूँ को खरीदेगा इसलिये वस्तु न तो सर्वथा नित्य है न सर्वथा क्षणिक या असत् है। वस्तु नित्य अनित्य रूप है। सामान द्रव्य रूप से कोई वस्तु न उपजती है न विनशती है क्योंकि द्रव्य सदा बना रहता है, वह अपनी अनन्त पर्यायों में टिका रहता है। विशेष पर्याय रूप से ही द्रव्य में उत्पाद व्यय होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि जो सत् द्रव्यहै वह एकही काल उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप है। पिछली पर्याय का नाश वर्तमान पर्याय का जन्म सदा ही द्रव्य में होता रहता है। तथापि द्रव्य बना रहता है।

यही वस्तु का सच्चा स्वरूप है। शुद्ध द्रव्यों में सदृश व स्वाभाविक पर्यायें होती हैं अशुद्ध द्रव्यों में विसदृश व औपाधिक पर्यायें होती हैं। द्रव्य पर्याय विना नहीं, पर्याय द्रव्य विना नहीं हो सकती है यही वस्तु स्वभाव है।

उसी प्रकार आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र के विना मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती है तीनों को एक जब माना जावे तब ही मोक्ष की सिद्धि हो सकती है अन्यथा। नहीं, यही भगवान का मत है।

संकल्प विकल्प रहित होकर अपने आत्मा का अनुभव करना यही सच्चा सुख का अनुभव है।

अरि वाग व्नयमेल्लरिंदरिदु नाना वस्थेयिं वस्तुवं।
नेरे तद्रूपमनितुटेंदु तरिसंद व्वग्रनाद्रुतमं ॥
तोरेदे ल्लानयपक्ष पाततितियं स्वस्थं विकल्पच्युतं।
पेरुगुं निन्नन्मतानुभूतियनदं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥११॥

अर्थ—हे मोक्ष लक्ष्मी पति के अधिपति सिद्ध भगवान ! जो भव्यजीव सभी नयको जानकर और अनेक पर्यायों से मिला हुआ पदार्थों को भिन्न भिन्न रूप से उसके स्वरूप को अच्छी तरह से वे इस प्रकार है ऐसे जानकर उसमें संशय नहीं करना रूचि या श्रद्धा रखना यह ठीक है। बादमें उस अनेक नय पक्ष को छोड़कर अपने आत्म में लीन होना तथा संकल्प विकल्प से रहित होकर आपका अनुभव रूपी अमृत को रुचि पूर्वक आस्वादन करना यही सच्चा सुख का अनुभव या मार्ग है जो इसे अनुभवता है वह हमेशा के लिये सुखी होता है ॥११॥

विवेचनः—मोक्ष मार्ग की इच्छा करने वाले के लिये यह सात तत्व बतलाया है:—(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) सम्वर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष। इसी तत्व में पाप और पुण्य मिलने से नौ तत्व भी हो जाते हैं। जीव शरीर

आदि अजीव से मिला हुआ है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है तब मात्र अपना जीव ग्रहण करने योग्य है और अजीव तत्व त्यागने योग्य है त्यागने योग्य अजीव तत्व को ग्रहण करने के कारण को बताना आश्रव कहते हैं उसी का बन्ध बताना बन्ध तत्व कहा है अजीव तत्व के त्यागने योग्य दूर करने के कारण को बताना ही सम्वर और निर्जरा तत्व है। त्यागने योग्य अजीव के बिलकुल छूट जाने के कारण को बतलाना मोक्ष तत्व है।

-(१) जीव तत्व—चेतना लक्षण जीव है, संसारावस्था में शुद्ध है।

(२) अजीवतत्व—जीवको विकार का कारण पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल में पाँच चेतना रहित अजीव द्रव्य इस जगत में हैं।

(३) आस्रवतत्व—कर्मों के आने के कारण को व कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं।

(४) बन्धतत्व—कर्मों के आत्मा के साथ बन्धने के कारण को व कर्मों के बन्ध को बन्ध कहते हैं।

(५) सम्वर तत्व—कर्मों के आने के रोकने के कारण को व कर्मों के रुक जाने को सम्वर कहते हैं।

(६) निर्जरा तत्व—कर्मों के झड़ने के कारण को व कर्मों के झड़ने को निर्जरा कहते हैं।

(७) मोक्षतत्व—सर्व कर्मों से छूट जाने के कारण को व कर्मों से पृथक होने को मोक्ष कहते हैं।

यह विश्व जीव और अजीव का अर्थात् छः द्रव्यों का जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल, इनका समुदाय है। पुद्गलों में सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्म वर्गणा हैं या कर्म स्कंध हैं। उन्हीं के संयोगसे आत्मा अशुद्ध होता है। आस्रव व बन्ध तत्व अशुद्धता के कारण को बताते हैं, सम्वर अशुद्धता के रोकने का व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का उपाय बताते हैं, मोक्ष बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बनाता है। ये सात तत्व बड़े उपयोगी हैं। इनको ठीक २ जाने बिना आत्मा के कर्म की बीमारी मिट नहीं सकती है। इन्हीं का सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यक्दर्शन है, इन्हीं के मनन से निश्चय सम्यक्दर्शन होता है। इसलिये ये निश्चय सम्यक्त के होने में बाहरी निमित्त कारण है। अन्तरङ्ग निमित्त कारण अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना या दबना है।

ऊपर के जो सात तत्व नौ पदार्थ है यह सब जीवात्मा को जब तक निश्चय नय का पहचान नहीं तब तक व्यवहार धर्म का अवलम्बन करना इस जीव को उचित है। परन्तु इस जीव के लिये व्यवहार क्रिया किये बिना मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है। कहा भी है कि:—

अर्थः—दान पूजा पञ्च परमेष्टी वन्दनादिरूप परम्पराय मुक्ति कारणं श्रावक धर्म कथयति—

दाणुण दिएणउ मुणिवरहंण विपुज्जिउ जिण णाहु।
पन्चण वंदिय परमगुरु किमु होसइसिवलाहु॥

अर्थः—दान पूजा तथा पंचपरमेष्ठी की वंदना करना जो श्रावक धर्म है, वह मुक्ति का साधन है।

जब तक यह जीव चारों प्रकार का दान मुनीश्वर आदि पात्रों को नहीं दिया जाय, जिनेन्द्र भगवान की पूजा अष्ट द्रव्योंसे भक्ति पूर्वक न किया जाय अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठी को नहीं पूजा जाय तब तक मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

भावार्थः—आहार, औषध, अभय और शास्त्र यह चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को दिये जांय अर्थात् निश्चय रत्नत्रय के अराधक जो यती उत्तम मध्यम जघन्य तीन पात्रों को भक्ति पूर्वक अर्थात् चार प्रकार का संघ मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका इनको चार प्रकार का दान भक्ति पूर्वक नहीं दिया जाय, और भूखे जीवों को करुणा भाव से अन्न दान नहीं दिया इत्यादिक को भक्ति पूर्वक दान देने की मन में भावना भी नहीं किया, इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र इत्यादिकों से पूज्य केवलज्ञानादिक अनन्त गुणों से पूर्ण जिनेश्वर की पूजा नही की, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप फल से पूजन नहीं की, और तीन लोक से वंदने योग्य ऐसे अरहन्त सिद्धि, आचार्य, उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठी की भक्ति पूर्वक अराधना नहीं की, इसलिये सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुम्हें मुक्ति का लाभ कैसे होगा क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके लिये यही साधन है। जिन पूजा पंच परमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार का दान इनको दिये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये हे जीव इसको अच्छी प्रकार जानकर सातवें

उपवास का ध्यायन अंगमें कहे हुये दान पूजा वंदनादिक की विधि नहीं करने योग्य है। सुविधि से न्याय के द्वारा उपार्जन किया हुआ आपका धन व दातार के अच्छे गुणों को धारण विधि से पात्र को देना जिनराज की पूजा करना और पञ्चपरमेष्ठी की वंदना करना यही व्यवहार रत्नत्रय से कल्याण का उपाय है। इस व्यवहार रत्नत्रय की सिद्धि होने के बाद इसी को हेय मानकर निश्चय रत्नत्रय की अराधना करना यही मुक्ति का कारण है। निश्चय नय से चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्ति का कारण है।

आधे खुले हुये नेत्रों से तथा बन्द किये हुये नेत्रों से क्या ध्यान की सिद्धि होती है? कभी नहीं। जो चिन्ता रहित एकाग्र में स्थित हैं उनको इसी तरह स्वयमेव परम गति मिलती है ख्याति पूजा मिलती है और लाभ हानि आदि समस्त चिन्ता से रहित जो निश्चित पुरुष हैं वे ही शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता पाते हैं। उन्हीं के ध्यान की सिद्धि है। वे ही परम गति के पात्र हैं। इसीलिये हे जीव? जो तू चिन्ताओं को छोड़ेगा तो संसार का भ्रमण छूट जायगा। क्योंकि चिन्ता में लगे हुये छदमस्थ अवस्था वाले तीर्थङ्कर देव भी परमात्मा का आचरण रूप शुद्ध भावों को नहीं पाते हैं।

सारांश यह है कि हे जीव निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभाव परमात्म पदार्थों से पराङ्मुख जो चिन्ता जाल को छोड़ेगा तभी चिन्ता के अभाव से संसार भ्रमण छूटेगा। शुद्धात्मा द्रव्य स्वरूप विमुख द्रव्य क्षेत्र काल, भव, भावरूप पाच प्रकारके संसारसे तू मुक्त होगा।

जब तक चिन्तावान है तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। दूसरों की तो क्या बात है! जो तीर्थङ्कर देव भी केवल अवस्था के पहले जबतक कुछ शुभाशुभ चिन्ता से सहित हैं तब तक वे भी रागादिक रहित शुद्धोपयोग परिणामों को नहीं पा सकते हैं संसय, विमोह विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादिक निर्मल गुण सहित हंस के समान उज्ज्वल परमात्मा के शुद्ध भाव हैं वे चिन्ता को छोड़े बिना नहीं प्राप्त होते हैं तीर्थङ्कर देवभी मुनि होकर निश्चित व्रत धारण करते हैं तभी परमहंस दशा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हे जीव ! तू सोच करके देखे सुने भोगे हुये भोगों की वांछाआदि समस्त चिन्ता जाल को छोड़ कर परम निश्चित हो और शुद्धात्म की भावना करो यही सार भगवान ने समझाया है ॥१९॥

लोहे के पात्र और सोने के पात्र इन दोनों को जैसे अलग-अलग मानना, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न जानने वाले ज्ञानी शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

परभावं परभावमं जनियिकुं स्वात्मस्थ भावं निरं।
तरितं स्वात्मगतत्वमं बगेग्रे पात्रं लोहदिं निर्मितं॥
निरुतं लोहमयं सुवर्ण रतितं सौवर्ण मेंवंददिं।
परमर्त्तेंबुदु निन्न शास्त्रद तिरुळ् निर्वाण लक्ष्मीपती!॥१२

भावार्थः—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहन्त भगवान?

अज्ञानी संसारी जीव को आपने ऐसे बतलाया है कि लोहे से निर्माण किया हुआ पात्र लोह मय का है और सोना के द्वारा निर्मित स्वर्णमयी है इस प्रकार हे जीव! दोनों को अलग २ समझाता है उसी प्रकार अपने भेद विज्ञान के द्वारा जो आभ्यंतर पर पदार्थ है रागद्वेषादिक भाव परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं और दुःख देने वाले हैं और स्वभाव आत्म परिज्ञान को उत्पन्न करने वाले हैं इस प्रकार परिनीति जो है दोनों को अलग अलग विचार करने से कभी भी विभाव परिणित उत्पन्न नहीं होता है, इसप्रकार हे भगवान्! आपके उपदेश को सार है ॥१२॥

विवेचनः—पर परिणित रागद्वेप को उत्पन्न करने वाले और

स्वपरिणित स्वात्म स्वभाव शान्ति उत्पन्न करने वाले हैं इस लिये जीवको पर पदार्थ को हेय मानकर हमेशा स्व पर का विचार कर पर वस्तु से भिन्न आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना चाहिये।

भगवान ने यह बतलाया है कि कर्मोदय की तीव्रता या देव या भवितव्यता का प्रमाण आपने प्रगट रूप से यह बताया है कि सभी प्राणी साधारणतयासे यही चाहतेहैं कि हम सदा जीवितरहें। हमारा कभी मरण न हो परन्तु वे ऐसा कोई अलौकिक पुरुषार्थ नहीं कर सकते जिससे वे मरण को टाल सकें प्रयत्न तो बहुत करते हैं औषधि, मन्त्र, तन्त्र आदि बहुत कुछ करते हैं परन्तु मरण को होनहार को बिलकुल नहीं टाल सकते यह शक्ति तो किसी में भी नहीं है। इन्द्र जो महा बलवान है वह भी आयु कर्म के क्षय से समय को टाल नहीं सकता। चक्रवर्ती जो महान निधियों के स्वामी हैं उनको भी समय पर मरना ही पड़ता है। यह अमिट भवितव्यता का प्रगट दृष्टान्त है। दूसरा यह है कि बहुधा यह चाहते हैं कि हम संसार से एकदम छूट जावें हमारी मुक्ति हो जावे हम जन्म मरण रोग शोक वियोग के दुःखों से रहित हो जावें परन्तु चाहने पर भी अपना छुटकारा नहीं कर सकते, क्योंकि लौकिक पुरषार्थ से कोई संसार से छुटकर मुक्त नहीं हो सकता। कर्मोदय उसको नवीन गतियों में फंसा देता है। यह भी देव की शक्ति का प्रगट दृष्टान्त है अथवा हर एक प्राणी सुख चाहता है भला चाहता है वह हमेशा सोचता है कि मैं न रोगी हूँ न दारिद्री हूँ न बूढ़ा हूँ न असमर्थ हूँ किंतु सदाही इच्छित भोगोंको भोगता रहूँ मेरे सुखमें कभीभी विघ्न न आवे परंतु कर्मो-

दय की तीव्रता होने के कारण ऐसा अपना हित नहीं कर सकता। रात दिन सुख में विघ्न होता रहता है वह इच्छित हित हाथमें नहीं आता है यह क्या कर्मों की तीव्रता का प्रगट दृष्टान्त नहीं है, ऐसे जानते हुये भी जो अज्ञानी जीव हैं वस्तु के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं वे निरन्तर मरण से भयभीत रहते हैं।

ऐसे सुख की इच्छा किया करते हैं जो बात अपने लौकिक पुरुषार्थ मात्र के आधीन नहीं है जिसमें कर्मोदय की भी आवश्यकता है उसके लिये दुःखी होते हुये व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं तथा मन को अशान्ति रखते हैं। जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं वे जानते हैं कि हमारा यह जीवन आयु कर्म के उदय के आधीन है हम आयु कर्म की स्थिति को बिलकुल ही बढ़ा नहीं सकते हैं। इसलिये जब आयु क्षय होगी हमें यह शरीर छोड़ना पड़ेगा वा दूसरा धारण करना पड़ेगा। इसलिये हमको मरण से कभी भय नहीं रखना चाहिये। जिसके समय को हम टाल नहीं सकते उससे भय करना मूर्खता है और न हमें रात दिन विशेष सुखों की चिन्ता ही करनी चाहिये वे भी पुण्य कर्म के आधीन हैं। दूसरे यह इन्द्रियों के विषय हमारे चाहने से ही हमारे साथ नहीं ठहरते हैं जो स्त्री पुत्र मित्रादिक चेतन पदार्थ हैं वे अपने आपसे कर्मों के आधीन हैं हम चाहते हैं कि वह जीवित रहें न मरें न रोगी हों न वियोग हो परंतु जब उनका कर्मोदय हो जाता है वह मर जाते हैं रोगी हो जाते हैं। वियोग हो जाते हैं परदेश चले जाते हैं। जो अचेतन पदार्थ हैं वे भी नाशवंत है घर उपवन वस्त्र आभूषण सब जीर्ण हो जाते हैं। हमारा पुण्य क्षीण होगा तब उनका सम्बंध भी नहीं रह सकेगा

ऐसा कर्मों का विचित्र नाटक जानकर यह ज्ञानी जीव न मरने से डरते हैं न भोग विलास से तपते हैं किंतु हमेशा धर्म पुरुषार्थ का सच्चे भाव से पालन करते हैं यह रत्नत्रयमय जिन धर्म ही है। जिसके प्रताप से यह प्राणी सर्व कर्मों को नाश कर मरण से छूट जाता है और नित्य मुक्ति को पा लेता है जन्म मरणादिक कलेशों से सदा के लिये अलग हो जाता है धर्म ही ऐसा पुरुषार्थ है कि जिसके कारण से पापों का क्षय होता है पुण्य का लाभ होता है तब लौकिक दुख कम हो जाते हैं व लौकिक साताकारी सामग्री प्राप्त हो जाती है यह धर्म ही जीव का परमहितकारी है ज्ञानी जीव सदा ही निःशंक रहकर आत्मानन्द का भोग करते हुवे परमधर्म से अपना हित करते हैं स्यादवाद नय से विचारते हैं कि भवितव्यता और पुरषार्थ भी है। हमें तो योग्य पुरषार्थ धर्म अर्थ काम व मोक्ष के लिये निरंतर करते रहना चाहिये सफलता तभी प्राप्त होगी जब देव अनुकूल होगा तब सिद्धि का समय अनायास अन्तराय कर्म नष्ट होगा इस प्रकार जीव को हमेशा भेद विज्ञान का अभ्यास करना चाहिये और पर वस्तु से भिन्न परमानन्द सुख में मग्न होकर उसी का पान करते रहना चाहिये ॥१२॥

पाप कर्म दुःख के कारण हैं और पुण्य कर्म सुख कारक हैं, ये दोनों कहने मात्र के लियेहैं, परन्तु दोनों को समान मान कर अपने आत्म स्वरूप में जो रत हैं वे ही सुखी हैं।

अशुभं पोल्लदु कर्म वोळ्ळितु कर्मं गळं नोळ्पडें।
तो शुभं लेसि निसल्के सात्तुददुवं संसरमं माळ्कुमें ॥
दशुभक्कं शुभकं समानतेय नावों कंडनै कर्ममं।
वशमं माडिदशुद्धात्नास शिवं निर्वाण लक्ष्मी पती! ॥१३

भावार्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहन्त भगवान्! आपने यह समझाया है किः—पाप कर्म जो है दुःख के लिये कारण है और पुण्य जो है सुख के लिये कारण है यह जीवों के लिये कहने मात्र के हैं ना? परन्तु विचार करके देखा जाय पुण्य कर्म जो हैं अल्प सुख के होने कारण वे भी संसार भ्रमण के लिये ही कारण है इसलिये पुण्य और पाप दोनों ही समान हैं। ऐसे जिन्होंने ठीक से जानने वाले हैं वे दोनों कर्मों को नाश करने वाले होकर परिशुद्ध (शुद्धोपयोगी) होकर मंगल मय को प्राप्त होता है ऐसा जानना चाहिये ॥१३॥

विवेचनः—अनादि काल से जीव मिथ्यादि के कारण अनेका-

नेक पापों को उपार्जन करते हुये अनेक योनियों को धारण करके चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। कभी एकेन्द्रिय द्वेन्द्रिय शरीर, कभी चतुरिइन्द्रिय तथा कभी पंचइन्द्रिय आदि अनेक शरीरों को धारण करते, हुये पाप रूपी कीचड़ में पुनः पुनः फँसा करता है। शरीर का सुख क्षणिक है कहा भी है किः—

भोगा मेघ वितान मध्य विलसत्सौदामिनी चंचला।
आयुर्वायु विघट्टिताभ्रपटलीलांनाम्बूवद् भंगुरम ॥
लोला यौवन लालसा तनु भृतामित्याकलय्यद्र तं।
योगे धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे बुद्धिं विद्ध्वं बुधाः ॥

अर्थः—देह धारियों के भोग-विषय-सुख-सघन बादलों में चमकने वाली बिजली की तरह चंचल है मनुष्यों की आयु हवा के छिन्न-भिन्न हुए बादलों के जल के समान क्षण स्थायी या नाशवान है और जवानी की उमंग भी स्थिर नहीं है। इसलिये बुद्धिमानो ! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके, उसे योग साधन में लगाओ।

संसार स्वरूप।

"संसरणं संसारः परिवर्तनम" संसार उसको कहते हैं जहाँ जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोड़ कर फिर अन्य अवस्था को धारता है। संसारमें स्थिरता नहीं, निराकुलता नहीं, संसार दुःखों का समुद्र है।

शरीर सम्बन्धी दुःख हैं—जन्मना, मरना, वृद्ध होना, रोगी

होना असक्त होना, भूख प्यास से पीड़ित होना, गर्मी शरदी से कष्ट पाना, डांस मच्छरादि से पीड़ित होना, बलवानों द्वारा शस्त्र घात सहना आदि।

Enjoyments are short lived like the flash of lightning in the midst of thick clouds. Life is transitory like the water vapors present in the clouds, which are scattered away by the blowing of a heavy gale. Men's attempts to preserve their youth for a longtime are also futile. Considering all these tnings, O wise men! It is only proper that you direct your attention at once to Yoga which is easy to practise provided you are possessed of the virtues of preservance and meditation.

संसार और संसार के सारे पदार्थ नाशवान् और असार हैं। यहाँ जो दिखाई देता है। वह स्थिर नहीं रहेगा। जो अथाह जल से भरा हुआ समुद्र दिखाई देता वह किसी दिन मरु स्थल में परिणत हो जायगा, पानी की एक बूंद भी नहीं मिलेगी। यह बगीचा, जो आज इन्द्र के बगीचे की बराबरी कर रहा है, जिसमें हजारों तरह के फूलों के वृक्ष लगे रहे हैं, हौज बने हुये हैं, छोटी छोटी नहरें कटी हुई हैं, संगमरमर और संगेमूसा के चबूतरे बने हुये हैं, बीच में इन्द्र-भवन के जैसा महल खड़ा है, किसी दिन उजाड़ हो जायगा, इसमें स्यार लोमड़ी और जरख प्रभृति

पशु बसेरा लेंगे। यह जो सामने महलों की नगरी (City of palaces) दीखती है, जिस में हजारों दुमंजिले तिमंजिले चौमंजिले, और सतमंजिले आलीशान मकान खड़े हुए आकाश को चूम रहे हैं, जहाँ लाखों मनुष्यों के आने जाने और काम धन्धा करने के कारण पीठ से पीठ छिलती है अर्थात् परस्पर में धक्के खाते हैं, किसी दिन यहाँ घोर भयानक बन हो जायगा। मनुष्यों के स्थान में सिंह, बाघ, हाथी, गैंड़े, हिरन और स्यार प्रभृति पशु आ बसेंगे। और तो क्या—यह सूर्य जो अपने तेज़ से तीनों लोक में प्रकाश फैलाता है, अन्धकार-रूप हो जायगा। यह अमृत से पूर्ण सुधाकर—चन्द्रमा भी शून्य हो जायगा। इसकी शीतल चाँदनी न जाने कहां विलीन हो जायगी? हिमालय और सुमेरु जैसे पर्वत एक दिन मिट्टी में मिल जायँगे। यह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी शून्य हो जायँगे। सारा जगत नाश हो जायगा। ये स्त्री पुत्र और नाते-रिश्तेदार न जाने कहाँ छिप जायँगे? युगों की सहस्र चौकड़ियों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। उसी दिन के पूरे होते ही प्रलय होती है। तब इस जगत् की रचना करने वाला ब्रह्मा भी नाश हो जाता है। आज तक अगणित ब्रह्मा हुए। उन्होंने जगत् की रचना की और अन्त में स्वयं नष्ट हो गये। जब हमारे पैदा करने वाले का यह हाल है, तब हमारी क्या गिनती?

यह काया—जिसे मनुष्य अपना सर्वस्व समझता है, जिसे मलमल कर धोता, इत्र-फुलेलों से सुवासित करता, नाना प्रकार

के रत्न जटित मनोहर गहने पहनता, कष्टसे बचने और सुखी होने के लिये नरम-नरम मखमली गद्दों पर सोता, पैरों को तकलीफ से बचाने के लिये जोड़ी-गाड़ी या मोटर में चढ़ता है—

एक दिन नाश हो जायगी। पांच तत्वों से बनी हुई काया पांच तत्वों में ही लीन हो जायगी। जिस तरह पत्ते पर पड़ी हुई बूंद क्षण स्थायी होती है, उसी तरह यह काया क्षण भंगुर है। दीपक और बिजली का प्रकाश आता-जाता दीखता है, पर इस काया का आदि-अन्त नहीं दीखता। यह काया कहाँ से आती है और कहाँ जाती है! जिस तरह समुद्र में बुद्बुदे उठते और मिट जाते हैं, उसी तरह शरीर बनते और क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं सच यह है कि, यह शरीर बिजली की चमक और बादल की छाया की तरह चंचल और अस्थिर है। जिस दिन जन्म लिया, उसी दिन मौत पीछे पड़ गई अब वह अपना समय देखती है। और समय पूर्ण होते ही प्राणी को नष्ट कर देती है।

जिस तरह जल की तरंगे उठ-उठकर नष्ट हो जाती हैं, उसी तरह लक्ष्मी आकर क्षण में विलीन हो जाती है। जिस तरह बिजली चमक कर गायब हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी दर्शन देकर गायब हो जाती है। हवा और चपला को रोकना अत्यन्त कठिन है, पर शायद कोई उन्हें रोक सके, आकाश का चूर्ण करना अतीव कठिन है, पर शायद कोई आकाश को भी चूर्ण करने में समर्थ हो जाय; समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत कठिन है, पर शायद कोई तैरकर उसे भी पार कर सके, इतने असम्भव काम

शायद कोई सामर्थ्यवान् कर ले, पर चंचल लक्ष्मी को कोई भी स्थिर नहीं कर सकता। जिस तरह अंजलि में जल नहीं ठहरता, उसी तरह लक्ष्मी भी किसी के पास नहीं ठहरती।

जिस तरह वेश्या एक पुरुष से राजी नहीं रहती, नित नये पुरुषों को चाहती है, उसी तरह लक्ष्मी भी किसी एक के पास नहीं रहती, नित-नये पुरुषों को भजती है। इसी से लक्ष्मी और वेश्या दोनों को ही चपला कहते हैं।

जिस तरह सांसारिक पदार्थ लक्ष्मी और विषय भोग तथा आयु चंचल और क्षण स्थायी हैं, उसी तरह यौवन या जवानी आते दीखती है, पर जाते नहीं मालूम होती। हवा की अपेक्षा भी तेज़ चाल से दिन रात होते हैं और उसी तेज़ी से जवानी झट खतम हो जाती है और बुढ़ापा आ जाता है। उस समय विस्मय सा होने लगता है। यह शरीर तभी तक सुन्दर और मनोहर लगता है, जब तक बुढ़ापा नहीं आता। बुढ़ापा आते ही वह उछल-कूद, वह अकड़-तकड़, वह चमक-दमक, वह सुखी, वह छातियों का उभार, वह नयनों का रसीलापन, न जाने कहाँ गायब हो जाता है।

असल में यौवन के लिये बुढ़ापा राहु है। जिस तरह चन्द्रमा को जब तक राहु नहीं ग्रसता, तभी तक प्रकाश रहता है, उसी तरह जब तक बुढ़ापा नहीं ग्रसता, तभी तक शरीर का सौंदर्य और रूप लावण्य बना रहता है। प्राणियों को बाल्यावस्था के बाद युवा-वस्था और युवावस्था के बाद वृद्धावस्था अवश्य आती है। युवा-

वस्था सर्वदा नहीं रहती, अच्छी तरह गहरा विचार करने से जवानी क्षण-भर की मालूम होती है।

संसार में जो नाना प्रकार के अच्छे अच्छे मन, भावन पदार्थ दिखाई देते हैं, ये सभी नाशवान् हैं। ये सब वास्तव में कुछ भी नहीं केवल मन की कल्पना से इनकी सृष्टि की गई है। मूर्ख ही इनमें आस्था रखते हैं, ज्ञानी नहीं।

इस जगत् में ज्ञानी का जीवन सार्थक और अज्ञानी का निरर्थक है। अज्ञानी के जीने से कोई लाभ नहीं। उसके जीने से अर्थ-सिद्धि नहीं होती। वह वृथा सुअवसर गँवाता है। मूर्ख मोह के मारे नहीं समझता, कि ऐसा मौका बड़ी मुश्किल से मिला है। इस बार चूके तो खैर नहीं। अज्ञानी अपनी अज्ञानता या मोह के कारण ही नाशमान् और दुःखों के मूल विषयों की ओर दौड़ता है, पर आयु, यौवन और विषयों की क्षण भंगुरता पर ध्यान नहीं देता। यह माया मोह नहीं तो क्या है? "सुभाषितावलि" में लिखा है।

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनम्।
कृतान्तदन्तार्चेति गेहं जीवनम् ॥
तथाप्यवज्ञा परलोक साधने।
नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम् ॥

विभूति चंचल है, यौवन क्षण भंगुर है, जीवन काल के दातों में है, तो भी लोग परलोक-साधन की परवा नहीं करते। मनुष्यों

की यह चेष्टा विस्मय कारक है। फिर दौसी ने "शाहनामें" में कहाः—मनुष्य इस नापायेदार दुनियाँ से क्यों दिल लगाते है जब कि मौत का नक्कारा दरवाजे पर बज रहा है।

मनुष्यों! होश करो गफलत की नीद छोड़ो। वह देखो मौत आपका द्वार खटखटा रही है। अब तो मिथ्या संसार का मोह त्यागो। ये जो स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन, माता, पिता आदिक प्यारे और सम्बन्धी दिखाई देते हैं, उसी समय तक हैं। जब तक शरीर नाश नहीं हुआ है। शरीर के नाश होते ही ये नजर भी न आयेंगे यह भी समझ में न आयेगा कि कहां गये और कहां से आये थे। यह बन्धु बान्धओं का मिलना उन यात्रियों या मुसाफिरों की तरह है जो भिन्न-भिन्न स्थानों में सफर करते हुये एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर जाते हैं और क्षणभर विश्राम लेकर फिर अपनी २ राह पर चल देते हैं या उन मुसाफिरों की तरह है जो अनेक स्थानों में आकर एक सराय या धर्मशाला में ठहरते हैं और फिर कोई दो दिन और कोई चार दिन रहकर अपनी अपनी जगह को चल देते हैं। वृक्षों के नीचे चन्द मिनट ठहरने वालों अथवा सराय के मुसाफिरों का आपस में प्रीति करना क्या अक्लमन्दी है। जिनका क्षण भर का साथ है उनमें दिल फँसाना दुःख मोल लेना है। उसके अलग होते ही मन में भयानक वेदना होगी अतः उनके साथ कोई सरोकार न रखना चाहिये। यह संसार दो स्थानों के बीच का स्थान है। यात्री यहाँ आकर क्षण भर के लिये आराम करते और फिर आगे चले जाते हैं। ऐसे यात्रियों का आपस में

मेल बढ़ाना एक दूसरे की मुहब्बत के फंदे में फंसना सचमुच ही दुःखोत्पादक है। समझदार लोग मुसाफिरोंसे दिल नहीं लगाते— उनसे प्रेम नहीं करते—उन्हें अपना पराया नहीं समझते। न उन्हें किसी से राग है न द्वेष। वे सबको समदृष्टि या एक नजर से देखते हुये सहाय करते और कष्ट निवारण करते हैं, पर उनसे प्रीति नहीं करते, लेकिन मूर्ख लोग स्त्री पुत्र और माता पिता प्रभृति को अपना प्यारा समझते और दूसरों को पराया समझते हैं। इस जगत में न कोई अपना है न पराया। यह जगत एक वृक्ष है इस पर हजारों लाखों पक्षी भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर रात को बसेरा लेते और सबेरे ही अपने अपने स्थानों को उड़ जाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों से आये हुये पक्षियों को क्या रात भर के साथ के लिये आपस में नाता जोड़ना चाहिए? हर्गिज नहीं दूसरों से सम्बंध जोड़ना, किसी को अपना पुत्र और किसी को अपनी स्त्री एवं किसी को मां या बहन समझकर स्नेह करना तो मूर्खता है ही। स्नेह तो अपनी काया से भी नहीं करना चाहिए क्यों कि यह भी क्षण भंगुर है सदा साथ न रहेगी।

सारांश यह है कि अज्ञानी जीव अपने स्व स्वरूप से भिन्न पर पदार्थ में रत होकर सर्वदा पाप संचय करते हुए उसमें रत होने के कारण आत्म सुख का अनुभव नहीं कर पाते। कदाचित् इस जीव को पूर्व पुण्य के निमित्त पाप का उपशम हो जाने से देव, गुरु तथा शास्त्र के संयोग मिलने पर व्यवहार रत्नत्रय को साधन भूत व्रत, नियम, संयम, दान तथा पूजा आदि के द्वारा पुण्यों

पार्जन करके इन्द्र, चक्रवर्ती अनेक भोग सामग्री को प्राप्त किया। परन्तु यह भी सुख क्षणिक होने के कारण चार दिनके लिये सुख मालूम पड़ने पर भी सुखाभास मात्र है, किन्तु यह सुख भी वन्धन के लिये कारण है इन दोनोंमें पुण्य व पाप का ही अंतर है। पुण्य थोड़े दिन के लिये सुख रूप में दृष्टि गोचर होता है और पाप तत्काल ही दुःखदाई होता है, पर ये दोनों बन्धन ही हैं जिस प्रकार भार वाहक मनुष्य के लिये चंदन तथा ववूल इन दोनों काष्ठों का वोझ ही है, केवल चंदन में सुगंधि है और ववूल सुगंधि रहित है, लेकिन उसके लिये दोनों बोझ ही हैं, उसी प्रकार पुण्य एवं पाप दोनों इस जीव को बांधने के लिये कारण हैं। इसलिये ज्ञानी मनुष्य जव इन दोनों (पाप, पुण्य) को त्यागकर अपने स्व स्वरूप में लीन होता है तव वह सुखी हो जाता है।

यहाँ कोई शिष्य शंका करता है कि तत्वज्ञानियों ने भोगों को नहीं भोगा ऐसा तो सुनने में नहीं आया अर्थात् तत्वज्ञानियों ने भी भोग भोगे हैं ऐसा पुराणों में सुना है तव आपके इस उपदेश की कैसे श्रद्धा की जाय कि कौन वुद्धिमान इन विषयों का भोग करेगा ?

इस पर आचार्य कहते हैं कि वुद्धिमान् लोग काम अर्थात् अतिशय विषयरूप नहीं सेवते इसका तात्पर्य यह है कि तत्वज्ञानी भोगों को हेय रूप श्रद्धान करते हुये भी चारित्र मोह के तीव्र उदय से उन भोगों को त्यागने के लिये असमर्थ होते हुये ही सेवते हैं, परन्तु उनके चित्त में ज्ञान वैराग्य की भावना सदा जागृत रहती है, जिस भावना के वल से जव उनका चारित्र मोह

मन्द हो जाता है तब इन्द्रिय ग्रामों को समेट कर अर्थात् संयम धारण कर शीघ्र ही आत्म कार्य के लिये उत्साहित हो ही जाते हैं इस प्रकार जो जीव उपरोक्त दोनों प्रकार के बन्धनों को त्यागकर विशुद्ध आत्म भावना में रत हो जाते हैं वे ही धन्य हैं ॥१३॥

शुद्धोपयोगी जीव को पाप और पुण्य दोनों हेय है।

ओर्वं ब्राम्हण भावदिं मदिरेयं कंडोइुवं मत्तमि ।
नौर्व वर्वर बुद्धियिंदद नदेंतु विट्टरन्नोळ्पडा ॥
इवगंगड मत्त शूद्रिकेये शूद्रर्जाति भेदभ्रमा ।
खर्वर्चें प्टिसुवंतेकर्म विधियुँ निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१४॥

अर्थः—हे निर्वाण मोक्षलक्ष्मी के अधिपती अरहंत भगवान्! आपने यह समझाया है, कि एक मनुष्य शुद्ध ब्राह्मण के समान शुद्ध आचरण से मद्य (मांस) को देखकर घृणा करता है और दूसरा अपने अज्ञान से कभी उस पर घृणा न करते हुए हमेशा उसका सेवन करता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इन दोनों को जन्म दिया हुआ माता एक ही है, अन्य नहीं है और वह माता शूद्र नहीं है। ऐसे होते हुए भी इस जाति भेद के कारण अभिमानी लोग ऊँच नीच भावना को करते हैं यह सभी भावना होना कर्म के विचित्रता के कारण हैं ऐसे जानना चाहिये शुद्धोपयोगी जीव को पाप और पुण्य दोनों ही हेय हैं ॥ १४ ॥

विवेचनः—जैसे शुद्ध ब्राह्मण वर्ण की ब्राह्मणी से दोनों पुत्र उत्पन्न हुये हैं, परन्तु शुद्ध ब्राह्मण के समान आचरण करने वाले मद्य मांस, दारू को देखकर घृणा करता है और दूसरा उसको घृणा न करके अज्ञान से शूद्र के समान सेवन करता है। परन्तु उनकी माता शूद्र नहीं हैं दोनों के एक ही माता है, उसी

प्रकार द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो शुद्धात्मा दोनों के अन्दर समान ही है कर्म की विचित्रता के कारण दोनों भिन्न-भिन्न मालूम होता है।

इस प्रकार यह जीव कर्म के विकल्प के कारण ऊँच नीच ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र कर्म के नाना प्रकार के वर्ण विकल्प को अपने मानकर ऊँच नीच की भावना अज्ञान से पुद्‌गल अर्थात् जड पदार्थ में कल्पना कर बैठा हुआ है। कहा भी हैः—

जातिर्देहाश्रितादृष्टा देव अत्मनःभव।

न मुच्यन्ते भवात्तस्माद्ये ते जाति कृताग्रहाः ॥

अर्थः—ब्राह्मण शूद्र क्षत्री वैश्य वर्ण यह सभी वर्ण शरीर के आश्रय देखा गया है और शरीर ही आत्मा का शरीर है। जो अज्ञानी, जाति ही मोक्ष का कारण है ऐसा हठ करते हैं, वे इस संसार से नहीं छूटते हैं।

यहाँ पर भी यही भाव है कि—जिसके दिल में यह विकल्प है कि मैं ब्राह्मण क्षत्री वैश्य ऊँच वर्ण का धारी हूँ उसके निर्विकल्प त्मानुभव रूप समाधि भाव नहीं हो सकता जब उपयोग जातिपने के अहंकार से हटकर अपने शुद्ध आत्मा स्वरूप में तन्मय होता है तब ही निश्चय रत्नत्रय रूपभाव होता है जिसके बल से कर्मों की निर्जरा हो और आत्मा मोक्ष के सन्मुख चल सकें। उच्च जाति होना यह व्यवहार नय से चारित्र के लिये मोक्ष मार्ग कहा गया है, निश्चय नय से नहीं। इसका भाव यह है कि दिगम्बर मुनि हुये विना ऊँचा मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है जिसको व्यवहार में ऊँच वर्णी माना गया है अर्थात् जो ब्राह्मण, क्षत्री,

वैश्य, वर्ण की संज्ञा में लोक में माना जाता है, क्योंकि ऐसा ऊँचा आत्माभाव उसी का होना सम्भव है कि जिसके भीतर दीनवृत्ति नहीं है जो शूद्रों के पाई जाती है। इसलिये उच्च वर्णों को मुनि की दीक्षा दी जाती है। मुनि की दीक्षा लेना यह व्यवहार चारित्र है, जिसकी आवश्यकता इसके पहिले श्लोक में कही जा चुकी है। जो कोई व्यवहार चारित्र को ही धार कर मैं मुक्त हो जाऊँगा ऐसा अभिप्राय रखता है उसका इस श्लोक में निषेध है। कि वह केवल व्यवहार के विकल्प से मोक्ष के योग्य स्वात्मध्यान नहीं कर सकता है। उसको यह जातिपने का विकल्प भी छोड़कर निर्मल आत्मानुभव की भावना में लीन होना होगा तभी वह मोक्ष का पात्र हो सकना है। तात्पर्य यह है कि इसीलिये निरंतर स्वरूप की भावना करनी चाहिये।

आगे की उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ऐसा विकल्प करता है और कहता है कि ब्राह्मणादि जाति का धारी साधु भेष का धारी ही अर्थात् निर्वाण के लायक दीक्षा नग्न आदि भेष हैं। उनको मुक्ति नहीं हो सकती।

> जाति लिंग विकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
> तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥

भावार्थः—यहां पर आचार्य ने शिष्य के इस अहंकार को छुड़ाया है कि उसके मन में ऐसा विकल्प हो कि मैं उत्तम जाति धारी व साधु लिंग धारी हूँ इससे मैं अवश्य मुक्ति हो जाऊँगा ऐसा आगम में कहा है। यद्यपि व्यवहार नय से उत्तम वर्ण मुनि भेष

को मुक्ति का कारण कहा है, परन्तु ये दोनों केवल बाहरी निमित्त हैं ये स्वयं मुक्ति के कारण नहीं। इन के होते हुये जो सर्व पर वस्तु के महत्व से रहित आत्मा की अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिति होना ही मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि वहां पर अभेद या निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। उत्कृष्ट पद परम पवित्र आत्मा का स्वभाव है इसलिये उसका साधन भी वह निर्मल भाव है जो सर्व पदार्थों के ममत्व व किसी प्रकार के अहंकार व ममकार से रहित है मैं मुनि हूँ, त्यागी हूँ, ऊँचा हूँ, पूजनीय हूँ, ऐसा भी जहाँ अहंकार है वहाँ मानभाव होने से शुद्ध स्वरूप में रमण नहीं होता है, इसी लिये कहा है कि सर्व विकल्पो को त्याग कर निर्विकल्प होकर शुद्धात्म स्वभाव में कल्लोल करना ही मोक्ष का साधक है।

आगे की उत्थानिका—परमपद की प्राप्तिके लिये उत्तम जाति आदि सहित शरीर में निर्ममत्व सिद्ध करने के लिये भोगों को छोड़ा जाता है। जो कोई इन इन्द्रिय के भोगों को छोड़कर फिर भी मोह के आधीन होकर शरीर में ही प्रीति करते है उनके लिये आचार्य कहते हैं कि:—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥

भावार्थः—यह बड़े भारी तीव्र मोह का माहात्म्य है कि जिससे संसारी प्राणी एकबार शरीर से ममता हटाने व वीतरागभाव प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय विषय भोगों को त्याग देते हैं फिर भी मोह

भाव से अरुचि बाँध लेते हैं। यहाँ पर कहने का तात्पर्य यह है कि परिग्रह व आरम्भ का त्याग कर मुनि की दीक्षा इसलिये धारण की जाती है कि निराकुल होकर वीतरागभाव के साधन के लिये अभ्यास किया जाय और पुनः २ आत्मानुभव का लाभ किया जाय । जिस आत्मानुभव का कारण शरीर आदि पर पदार्थों से भेद ज्ञान होना है। भेद ज्ञान का अर्थ ही यही है कि अपने स्वरूप को उपादेय और पर को हेय जान कर अपने स्वरूप को ग्रहण कर लेना और पर को त्याग देना।

यदि कोई मुनि की दीक्षा धारण करके फिर भी शरीर से, शरीर के भेष से शरीर की जाति स ममत्व करके मोह करे और उन्हीं का अहंकार करे तो फिर उसकी अवश्य वीतराग शुद्ध आत्मस्वरूप से अरुचि हो जाती है। इसमें उसके मिथ्यात्व व राग का ही कारण उदय है। आचार्य का उपदेश यह है कि शरीर व जाति व भेष का अभिमान छोड़कर उसे केवल निमित्त मात्र जानकर सिवायं अपने आत्मस्वरूप के और किसी अन्य से राग न करना चाहिये। अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा के एक शुद्ध भाव को ही मुक्ति का कारण जान करके उसी का अनुभव करना चाहिये।

इस प्रकार कर्म कल्पित जो ब्राह्मणादि भेद हैं तथा पुरुष लिंगादि जो तीन लिंग हैं वे यद्यपि व्यवहार नय के द्वारा देह सम्बन्ध से जीव के कहे जाते हैं, पर शुद्ध निश्चय नय से आत्मा से भिन्न हैं। और साक्षात् त्यागने योग्य हैं। उनको निर्विकल्प

समाधि से रहित मिथ्यादृष्टी जीव अपना जानता है, पर उनको मिथ्यात्व से रहित सम्यक्दृष्टी जीव अपना नहीं जानता आपको ज्ञान स्वरूप समझाता है।

इस प्रकार शुद्धात्म दृष्टिसे देखने पर शुद्धोपयोगी सम्यक्दृष्टि जीव सभी मर्म कृत समान ही दृष्टि गोचर होता है अर्थात् उसके मन में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है। इसलिये हे जीव ! कर्म कृत ऊँच नीच भावना को छोड़कर एक शुद्धस्वरूप का ही ध्यान करो ऐसा भगवान समझाया है ॥१४॥

पाप से दुर्गति दुर्गति से अनेक प्रकार दुःख होता है इसलिये ज्ञानी लोग पाप से डरते हैं।

निरुतं पापदे दुर्गतित्वमदरिं नानाविधं दुःखदु ।
भर माद्दुःखदिनार्तरौद्र परिणामं तद् विभावोदयं ॥
पिरिदप्पोंदघवंध हेतुव दरिंदं देव पापक्के क ।
एवरियं माडुवल्ल निन्ननुचरर्निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१५॥

अर्थः—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अनन्त भगवान् ! हमेशा पाप से दुर्गति व दुर्गति से नाना प्रकार के दुःख समूह तथा दुःख से आर्त्त, रौद्र परिणाम जीवात्माको हुआ करते हैं उससे होने वाले विपरीत फल व उस फल से अनेक तीव्र पाप का बन्ध होता है। इसलिये आप के भक्तगण पाप की ओर दृष्टि नहीं रखते हैं, ये पापों से सर्वदा भयभीत रहते हैं ॥१५॥

विवेचनः—यह संसारी जीव अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण सर्वदा पापों को ही संचय किया करता है तथा उस पाप से अनेक बार नरक में नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं। यदि उस नरक की ओर दृष्टिपात किया जाय तो यह हृदय कंपायमान हो उठता है। वहाँ पर नारकीय जीवों के शरीर को नारकीय देव अस्त्र शस्त्र से टुकड़े टुकड़े कर देते हैं, उनके हाथ पांव को बांधकर अग्निकुंड में डाल देते हैं, उनके मस्तक से लेकर पैर तक तीखे

आरे से चीर कर दो भाग करके खौलते हुये तेल के कड़ाहे में डाल देते हैं। पुनः नमक, सरसों कालीमिर्च, सोंठ तथा चूना मिला कर उनके शरीर में लेप करके निर्दयता पूर्वक उन्हें खूब पीटते हैं। तत्पश्चात् इस चमड़े को शरीर से अलग कर देते हैं, वार वार कोल्हू में डालकर उसे पेरते हैं, पुनः लोहे के सलाके को अग्नि में लाल करके उसके शरीर में खोस देते हैं, तलवार से शरीरके टुकड़े टुकड़े करके फेंक देते हैं और फिर उन टुकड़ों को इकट्ठा करके एक में मिला देते हैं तथा जलते हुये अग्नि में डाल देते हैं पुनः वहाँ से निकाल कर खौलते हुये तेल में भूनते हैं, पुनः उनके हाथ व पांव को काट देते हैं, तत्पश्चात् उनके गले को दबाकर खूब पीठते हैं, उसके वाद खौलते हुये तेलको उन्हें पिलाते हैं तथा दोनों आंखों में अग्नि की चिगारी रखते हैं तदनन्तर लकड़ी की भाँति उसे बंसुले से छीनते हैं, तब उस जीव को सिंह रीछ कुत्ते आदि के बीच में छोड़ देते हैं। ये जीव उसे चारों ओर से नोचते हैं।

इस प्रकार कोई हाथ काटता है, कोई गला, कोई शिर, कोई स्तन, कोई शरीर का रुधिर निकालकर पीने लगता है तथा कोई अँगुली काटकर नाना प्रकार का दुःख देता है। जिस प्रकार लोहार लोहे को लाल करके लोहे को घन से पीटता है उसी प्रकार इस जीव को खूब पीटते हैं। इन दुःखों से दुःखी होकर जब जीव इधर उधर भागता है तब उसके रास्ते में अनेक प्रकार के वड़े वड़े लोहे के कांटे बिछे रहते हैं, वे पैरों में चुभ जाते हैं। इसके साथ साथ चारों ओर अग्नि जलती रहती है, और इस जीव के साथ साथ वड़ी वड़ी मक्खियाँ लगी रहती हैं, जब इस जीव को

प्यास लगती है तब चूना मिला हुआ पानी पिलाते हैं। इस प्रकार इस पापी जीवों को नरक में लेश मात्र भी विश्राम नहीं मिलता। पुनः इस जीव को शूली पर चढ़ाकर नीचे से आग लगा देते हैं। मारो मारो! पीटो पीटो। पकड़ो पकड़ो! ऐसा कहते हुये नारकीय दूत जानकर उसे चारों ओर से घेरकर पकड़ लेते हैं तथा जिस प्रकार कुम्हार चाक पर मिट्टी घुमाता है उसी प्रकार घुमाते हैं और चावल की भांति ओखली में रखकर मूसल से कूटते हैं। बाद में इसे एक जगह मार कर फेंक देते हैं वहां पर गीध चील्ह तथा अनेक प्रकार के भयंकर कौवे आकर नोचते हैं। उनसे व्यथित होकर जीव को ऐसी प्यास लगती है कि सम्पूर्ण समुद्र को पी जाय तो भी वह बुझ नहीं सकती। इस प्रकार नरक में जीवों को नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इन दुःखों को भोगने के अनन्तर किंचित् पुण्योदय होने से यह जीव एकेन्द्रिय शरीर धारण करता है। उसकी आयु पूर्ण होने पर द्विइन्द्री शरीर धारण करता है, उसके बाद त्रिइन्द्री शरीर धारण करता है तथा उसकी आयु समाप्त करके चतुरिन्द्रि शरीर धारण करता है इन सबके अनन्तर पंचेन्द्रिय शरीर धारण करके परतन्त्र होकर बोझा लादते हुये अनेक प्रकार के भूख व प्यास को सहन करना पड़ता है। तत्पश्चात् पाप के कारण अधम मनुष्य के यहाँ जन्म लेता है और उस शरीर से भी विविध पाप संचित करके पुनः पुनः नरक गामी होता है। तब वहाँ से आर्त्त व रौद्र ध्यान आदि अशुभ भावनाओं के द्वारा नरक में जाकर चक्र के समान इधर उधर घूम कर दुःख उठाया करता है।

जब तक जीव अपने स्वरूप से रहित होकर परवस्तु में रमण करता है तब तक संसार सम्बन्धी परवस्तु में ममत्व भाव करके उसी के पीछे आर्त ध्यान रौद्र ध्यान करके आगे अपने आत्मा के बांधने योग्य कर्मों का संचय कर लेता है और उसके निमित्त तीव्र पाप का बन्ध करलेता है। उसके निमित्त अनेक बार नरक निगोद में जाकर उत्पन्न करता है, जब तक अपने निजशुद्धात्म स्वरूप का पहचान नहीं होता तब तक पराधीन होकर पाप रूपी नरक कुंडमें पड़कर सड़ जाता है। भाव यह है कि:—

भुक्तो ज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टे ष्विवतेष्वद्यमम विज्ञास्य का स्पृहा॥

यह जीव अनादि काल से कर्मोंके बन्धन में प्रवाह की अपेक्षा पड़ा हुआ है, अनादि काल से ही इसके संसार से मोह हो रहा है मिथ्यात्म कर्म के जोर से इसे कभी भी अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं हुआ, यह जिस शरीर में से प्राप्त हुआ उसी में अपना करके उसके भोग में रत हो गया। आयु कर्म के कारण उनको छोड़ना पड़ा फिर दूसरे शरीर में प्राप्त होकर वैसी ही अज्ञानता की परंतु कभी भी भेद ज्ञान का लाभ नहीं किया। इस तरह इस अज्ञानी जीव ने अनादि काल से इतने शरीर धारण किये हैं कि कोई पुद्गल ऐसा नहीं रहा जो इनसे कभी न कभी ग्रहण न किया हो, जिसमें तैज कार्मण, व औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व भाषा व मनरूप से परमाणुओं को वार वार ग्रहण करके छोड़ता गया जैसे सब पुद्गल वार वार भोगे जाने से उच्छिष्ट हो गये? वैसे इन्द्रियों के भोग भी वार-वार भोगे जानेसे उच्छिष्ट सम हो गए।

ज्ञानी विचारता है कि जगत में ऐसा नियम है कि जो भोजन किसी ने अपना मुंह लगा कर जूठाकर दिया तो फिर आप व दूसरा उसे नहीं खाता है। जो माला एक दफे पहन लिया उसे आप व दूसरा कोई भी नहीं पहनेगा। यदि कदाचित् कोई लाचारी से उच्छिष्ट पदार्थ को फिर भी भोग करे तथापि भोगने वाले की वांछा ऐसे जूठन में नहीं होती है। वह तो शुद्ध भोजन माला आदि को किसी को भी भोगे हुए न हों उन्हीं की इच्छा करता है वह भोगे हुए पदार्थ की इच्छा नहीं करता है तब जिन शरीर आदि पुद्गलों को मैंने वारंवार भोग कर उन्हें उच्छिष्ट कर दिया तव उनमें अव मेरी इच्छा कैसे हो सकती है? जव तक मैं अज्ञानी वालक के समान था तवतक मैंने जूठे पदार्थों को भी सच्चा जाना और उपादेय मानकर भोग किया! जैसे अवोध छोटा वालक सच्चे झूठेका ज्ञान न रखता हुआ एक दफे खाये यह ठी है पदार्थ को फिर भी खाता है उनके मनमें ग्लानि नहीं आती वैसे मैंने भोगेहुये पदार्थोंका भोग किया और कुछ भी ग्लानि नहीं आयी। किंतु जैसे समझदार मनुष्य उच्छिष्ट भोजन का कभी ध्यान नहीं करता है वैसे अव जव मैंने तत्वज्ञान के वल से पदार्थों का सच्चा स्वरूप मानकर पुद्गलादि में हेय तथा आत्मा में उपादेय बुद्धि की व मेरी इच्छा उन उच्छिष्ट पुद्गलों में कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती है। तत्वज्ञानी इन यथार्थ पदार्थों के स्वरूप के विचार करने के वल से पदार्थों से ममत्व छुड़ा लेता है और वीतराग भाव को अपने मन में जमा लेता है।

वाद में उसके तरफ दृष्टि नहीं डालता है। क्यों कि पुद्गल

तथा जड़ पदार्थ के संयोग से ही अनेक पापका संचय करके अनेक दुःख भोगना पड़ा तब बड़ी कठिनाई से ही उससे छुटकारा पाकर सच्चा धर्म का सहारा लिया है। तब वह जानता है अगर यहां से छोड़कर चले जांय तो मुझको पहले के समान फिर भी दुःख उठाना पड़ेगा। इसलिये अपने निजस्वरूप का या वस्तु स्वरूप धर्म का सहारा नहीं छोड़ता और उसे आराधने योग्य सच्चा भक्त अर्थात् पुजारी बन जाता है। और बार बार इन्हीं सच्चा आश्रय देने वाले भगवान की प्रार्थना करता है किः—

जन्मोन्माज्यं भजुतु भवतः पादपद्मं नलभ्यं।
तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः॥
अश्नात्यन्न यदि ह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते।
क्षुध्या वृत्यै कवल पतिकः काल कूटं बुभुक्षुः॥

अर्थः—हे देव! भव्य जीवों को जन्म मरण रूपी दुःख को नष्ट करने वाले आपके चरण कमलों का ही सेवन करना चाहिये यदि कदाचित् आपके चरणकमल प्राप्त न हो सकें तो फिर वे भले ही स्वच्छंदता पूर्वक आचरण करें। परन्तु उनको कुदेवों की सेवा नहीं करना चाहिये। क्योंकि संसार में सुलभ जो अन्न है उस अन्न को ही सब लोग खाते हैं। यदि उस अन्न का मिलना दुर्लभ हो जावे तो वे भूखे ही बैठे रहते हैं। कारण की ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्षुधा को दूर करने के लिये विष को खावेगा। फिर भी भगवान के चरण में भक्त लोग याचना करते हैं किः—

नस्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः।
हेतुस्तत्र विचित्र दुःखनिचयः संसार घोरार्णवः॥

अत्शांतस्फुर दुग्ररश्मि निकर व्याकीर्ण भूमंडलो।
ग्रैष्मःकार यतीन्दुपाद सलिल च्छाया नुरागरविः ॥

अर्थः—हे भगवन् ! वे सभी संसारी जीव प्रेम पूर्वक आपके चरण कमल के शरणें प्रीति के वश से नहीं जाते हैं क्योंकि आपके चरणों की शरण में आने से कुछ निमित्त कारण है। कारण यह है कि संसार रूपी समुद्र या संसार रूपी महान भयानक जंगल महा विचित्र है। क्योंकि इस जंगल में महान भयानक दुःख भरा हुआ और इन्द्रिय रूपी बड़े बड़े जानवर इसमें हमेशा रहते हैं। और इसमें विषय वासनारूपी गर्मी से जीव घबड़ाकर यत्र तत्र रूपी गर्मी के किरणों से भयभीत हुए तड़प रहे हैं। दैव वशात् चन्द्रमा के समान शांति को देने वाले आपके चरणरूपी छाया का शरण लेने से उन जीवों का संसार वासना रूपी गर्मी को अपने शरणामें आकर शांत कर लिया तथा सुखी हो गया। अब उन जीवों को डर किसका अर्थात् आपके भक्तों को डर नहीं है।

ज्यादा पुण्य भी संसार विषय का कारणी भूत होने से वे भी बन्ध तथा संसार के कारण हैं।

निरुतं पुण्यदे भोगमक्कू मदिरिंदं तृष्णे तृष्णार्तियिं।
परवस्तु प्रकरानुभूतियदरिंरागादि रागादियिं॥
दोरे कोंडास्रव मास्रवं भवनिबद्धं पुण्यमु पापदो।
ळ्निरेयायुती विधदिंद योनिगे वलं निर्वाण लक्ष्मीपती!॥१६

अर्थः—हे! मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान्! पुण्य से सुख की अभिलाषा बारम्बार बढ़ती जाती है। इससे पर वस्तु का भोग व भोग से मोह तथा मोह से कर्मास्रव होता है। और इस मर्माश्रव से संसार का बन्ध हाता है। इस लिये पुण्य के सहयोग से भी क्षणिक सुख प्राप्त करके बारम्बार दुःख उठाने पड़ते हैं तो यह पुण्य भी संसार बन्धन के लिये कारण नहीं हैं क्या? अवश्य ही हैं।

अर्थात् पुण्य भी संसार बन्धन के लिये कारण है। इस प्रकार आपका अभिप्राय है। ॥१६॥

विवेचनः— पुण्य से हमेशा सांसारिक भोगोपभोग की प्राप्ति होती रहती है? परन्तु यह सुख चार दिन के सुख के समान मालूम होते हुए इन्द्रियों को भोगने योग्य है, विषय वासना को तथा कषाय को बढ़ाने वाला है, मोह को उत्पन्न करने वाला है, पाप को बढ़ाने वाला होकर संसार की वृद्धि करने वाला है? और

क्षणिक है। अन्त में दुःखदाई है, और आर्त ध्यान रौद्र ध्यान को उत्पन्न करने वाला है। इन्द्रिय लालसा को बढ़ाने में उत्तेजक है। लोभ माया ममता को जनक है। नरकादि चारों गतियों को ले जाने में सहकारी है और क्षणिक है हमेशा संसार भ्रमण का निमित्त कारण है पुण्य कर्म के द्वारा मिला हुआ राजलक्ष्मी महल अनेक प्रकार के भोग सामग्री इत्यादि सुख ऐसा मालूम पड़ता है, कि जैसे मनुष्य के शरीर में खुजली होने से पहले खुजलाते समय बहुत आनन्द मालूम पड़ता है, परन्तु जैसे खुजलाते जाते हैं वैसे ही अन्त में वेदना होकर अत्यन्त दुःखदाई मालूम पड़ती है बाद में उस वेदना को सहने में असमर्थ होकर तीव्र दुःखी होता है।

उसी तरह पुण्य कर्म के द्वारा मिला हुआ सुख पहले अच्छा मालूम पड़ता है बाद में उसको भोगते भोगते इन्द्रिय लालसा बढ़ती जाती है और कार्य वासना में प्रदीप्त होकर अनेक विषय वासना में फंस जाता है, उनके द्वारा होने वाले पाप के निमित्त वह जीवात्मा नरकादि गतियों का बन्ध भी कर लेता है अथवा कदाचित् पुण्य के उदय होने के कारण कदाचित् देव गति का बन्ध भी कर लेता है, और वहां चारदिन सुख से अपनी आयु को बिताकर अन्त में मनुष्य गति में पतन होता है। जैसे मानो मछली को पानी से निकलवाकर जमीन पर फेकने से तड़पती है उसी तरह देवगति से निकलकर निचिले मनुष्य गतिमें पड़ते ही संसारीक वेदना से तड़पता है, अन्त तक दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है।

यत् फिर भी सुख पुण्य उपार्जन किया जाय अथवा दान पूजा भक्ति स्तुति, वंदना व्रत नियम संयम तप वगैरह एक

पालन करके पुनः देवगति, देवगती से मनुष्य गति प्राप्त करते हुए क्षणिक सुख दुःख अनुभव करते रहते हैं। कहा भी है किः—

सत्य पात्र दानेन भवेद्धनाढयो। धनः प्रकर्षेण करोति पुण्यम्।
पुण्याधि कारी दिविदेव राजा। पुनर्धनाढयो पुनरेव भोगी॥

अर्थः—सत्पात्र दान पूजा व्रत नियम संयम इत्यादि से धन की प्राप्ति होती है। अर्थात् सत्पात्र दान के प्रभाव से पुण्य की प्राप्ति होती है, और पुण्य के प्रभाव से देवगति का बन्ध होता है, फिर वहाँ से मरकर मनुष्य गति में जन्म लेता है फिर धनवान होता है फिर दान पूजा करके फिर देवगति में वहां से फिर मनुष्य गति में जन्म लेकर पुनः धनाढ्य पुनः भोगी इस प्रकार पुण्य कर्म को भोगते हुए शुभ अशुभ क्रिया में रत होकर भोग में फंसा रहता है। इससे पुण्य ही होता है और संसार की वृद्धि होती है। परंतु इससे आत्म सिद्धि या आत्म स्वरूप प्राप्त कर देने वाले सच्चा निजात्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती है स्वानुभव बिना यह जीव हमेशा संसाररूपी महान सागर में गोता खाया करता है। कहा भी है किः—

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णियय अप्पाणं।
तो ण लहइ तं शुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं॥

भावार्थः—यहाँ पर यथार्थ बात बताई जाती है कि यथार्थ आत्म ध्यान उसे समझना चाहिये कि जहाँ आप आप में लय हो कर अपने आत्माका अनुभव करे आप हीके स्वभाविक आनन्द रस पान करे उसी को अपने शुद्ध आत्मा का स्वभाव मिट गया ऐसा कहा जायगा। क्योंकि वह सर्व परसे छूटा हुआ अपने ही निर्वि-

कल्प अभेद स्वरूप में तन्मय है, वही बड़ा भारी पुण्य शाली निकट भव्य जीव है जो स्वानुभव रूपी रत्नत्रय की एकता को पा लेता है।

एक बार अगर इस जीव को स्वानुभव के द्वारा शुद्धात्मा का पहचान हो जाय तो वह संसार में रहे या भोग में फंसे रहने पर भी वह हमेशा सुखी रहता है। क्योंकि संसार की रुचि नहीं है। और उससे बिलकुल घृणा करता है और कर्म का बन्ध उनको नहीं करता है। इससे अरुचि रखता है, इससे वह थोड़े समय में अपने निज सुख प्राप्ति करके मोक्ष सुख को पाता है।

कोई अज्ञानी संसार के लोलुपी बहिरात्मा जीव ध्यान भी करे परन्तु उस ध्यान में अपने निज ध्येयपर न आवे मंत्रों पर चित्त रोके या पृथ्वी आदि धारणाओं को करे व पांच परमेष्ठी का ध्यान करे या सिद्ध का स्वरूप ध्यावे, उन सब साधनों में उलझा रहे परन्तु अपने ही शुद्ध स्वतत्वपर न पहुँचे तो उसे भाग्य हीन कहा जायगा। क्योंकि मोक्ष का साधन मुख्य एक वीतराग स्वसंवेदन भाव या शुद्धोपयोग है।

द्रव्य लिंगी मुनि ध्यान का बहुत ही अभ्यास करते हैं परन्तु मिथ्यात्म कर्म के अपने शुद्धात्मा की प्रतीति रूप सम्यक्दर्शन को न पाते हुए स्वानुभव के सिंहासन पर नहीं पहुँच सकते, वे भावमें बहिरात्मा ही रहते हैं। यद्यपि मंद कषाय से ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होने का पुण्य बन्ध लेते हैं तथापि भवसागर से पार होने का साधन स्वानुभवरूपी जहाज को न पाकर वे मोक्ष का काम नहीं कर सकते हमेशा संसार में भ्रमण करते हुए भटकेगा।

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत धारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्रीध्यान जन्मने ॥
ज्ञान वैराग्य रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथ वर्तिनः ।
जित चित्तेन शक्यंते धर्त्तुमिंद्रिय वाजिनः ॥

भावार्थः—परिग्रह का त्याग, कषायों का विरोध व्रतों का धारण मन व इन्द्रियों का विनय ये सब सामग्री ध्यान के साधन में आवश्यक है। जिसका मन अपने वश है वही नित्य कुमार्ग में ले जाने वाले इन्द्रियरूपी घोड़े को ज्ञान व वैराग्य की रस्सियों से पकड़कर वश रखने को समर्थ होता है। जबतक वैराग्यरूपी रस्सी इनके हाथ में नहीं आयेगी तब यह मूर्ख अज्ञानी जीव संसार में भटकते हुए शुभ अशुभ कर्म के द्वारा अपने आपको बाँधकर हमेशा संसार में फंसे रहते हैं तब तक पाप पुण्य रूपी रस्सी इस आत्मा राम से लगे हुए हैं तब तक शुद्धात्मा के जहाज पर चढ़ नहीं सकता और मोक्ष महल में पहुंच नहीं सकता है।

जब जीव देवगति से मनुष्य गति में आता है वह दुःख जैसे पानी से मछली अलग जमीन पर फेंकने से जैसे तड़पती है उसी प्रकार इसको भी दुःख होता है।

उंतु योनिगे निश्चलातम सुखदिंदं बळ्केयु दुःखविं ।
नंतातं विषयंगलेत्तेरगुवं नीरिंद मीनपिंगेयु ॥
संतापं बडगु ज्वलज्वलनमं सार्वदमेंबतेवो ।
लिंती युक्तियगम्यमन्य मत दो ळ्निर्वाण लक्ष्मीपती! १७

अर्थः—हे! मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान्! यह मनुष्य अगर स्थिरता पूर्वक बैठकर परिश्रम के साथ आत्मध्यान करने पर भी निदान शल्य के कारण देवगति इत्यादि सुखों की इच्छा करके वहां के विषय क्षणिक सुखों में मग्न होकर अन्त में अपनी आयु पूर्ण कर जब मनुगित में वहाँ से च्युत होता है तब अनेक दुःख उठाता है। जैसे मछली को पानी से निकाल वा जमीनमें फेकनेसे जसे तड़फती है, वैस ही यह मनुष्य इस मनुष्य गति के दुःख से तड़फता है ॥१७॥

विवेचनः—यह प्राणी उत्तम मनुष्य पर्याय पाकर के भी अपना आत्म कल्याण नहीं कर पाता। कदाचित् काल लब्धि पा कर सम्यक्त्व भी प्राप्त किया तथा दुर्द्धर तपश्चर्या के द्वारा ध्यान रूपी जहाज पर आरूढ़ हो गया, पर जिस ध्यान से अखंड अवि-

नाशी मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त कर सकता था किंतु वह प्राणी निदान बांध कर के देवगति के सुख की इच्छा से वहाँ के (स्वर्ग के) विषय सुख भोगने के बाद आयु के अवसान में जब मनुष्य जन्म में पतन होता है तब वह इस प्रकार तड़पता है कि जैसे मछलियां पानी से निकालने के बाद पृथ्वी पर रखने से तड़पती है। यह प्राणी सर्वदा लोभ व कषाय के वशीभूत हो कर अपने ईप्सित फल को नहीं प्राप्त कर सकता कहा भी है किः—

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्यु गोचरैः।
वराकाः प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्त वांछिताः ॥

अर्थः—पामर प्राणी निरंतर लोभ कषाय के वशीभूत होकर वांछित फलको न पाकर मृत्यु को सामने करने वाले अनेक उपायों द्वारा अपने अमूल्य जीव रत्न को व्यर्थ में ही नष्ट कर देते हैं।

तत्तत्कारक पारन्त्र्य मचिरा न्नाशः सतृष्णान्वयै।
स्तैरेभिर्निरुपाधि संयमभृतो वाधा निदानैः परैः ॥
शर्मभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन।
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥

अर्थः—यद्यपि विषय जनित पूर्वोक्त सुख को दुःख ही कहा है सो ठीक भी है, क्योंकि उस सुख को कारकों की पराधीनता है। अर्थात् वह सुख अन्य के द्वारा होता है और तत्काल नाशवान् भी है तथापि ये संसारी जीव उपाधि रहित संयम के धारक होने पर भी तृष्णा के साथ सम्बन्ध करते हुये वाधा के कारण ऐसे, अन्य धनादिकों के द्वारा सुख के लिये विषयों की इच्छा करते हैं, सो क्या करते हैं कि मानों क्रोधायमान नागेन्द्र के अगले दातों से

(विष के दांतों से) खुजलाने का साक्षात् विनोद ही करते हैं।

भावार्थः—साँप के जहरीले दाँतों से खुजलाना मृत्यु या दुःख का ही कारण है।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थ रचना सौन्दर्य सदानितः।
प्रीतिः प्रस्तुल लोभलङ्घित मनाः को नाम निर्वेद्यताम्॥
अस्माकन्तु नितान्त घोर नरक ज्वाला कलापः पुरः।
सोढव्यः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनाः कृन्तति।

अर्थः—अहो! खेद है कि समस्त मनो वांछितेन्द्रियों के विषयों की रचना के सौन्दर्य से जिसका मन बँधा हुआ है तथा प्रीति के प्रस्ताव (चक्र) में आने से लोभ के द्वारा खंडित हो गया है। मन जिसका, ऐसे जीवों में से ऐसा कौन है, जो विषयों में से उदासीन होने के लिये तत्पर हो।

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि हे संसारी जीव! विषयों से विरक्त तो नहीं होते, किन्तु इन विषयों से उत्पन्न हुये अतिशय रूप तीव्र नरकाग्नि की ज्वाला समूह को भविष्य काल में किस प्रकार सहन करोगे? यह महा चिन्ता हमारे मन को दुःखित कर रही है।

मीना मृत्यु प्रयाता रसन व शमिता।
दन्तिनः स्पर्श रुद्धाः
बद्धास्ते वारि बन्धे ज्वलन मुपगताः
पत्रिणश्चाक्षि दोषात्
भृंगाः गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगताः
गीत लोलाः कुरङ्गाः

कालव्यालेन दृष्टा स्तदपि

तनुभृता मिन्यिर्थेष रागः ॥

अर्थः—अरे देखो रसना इन्द्रिय मछली है वह मृत्यु को प्राप्त हुई है और हस्ती स्पर्शन इन्द्रियों के वशीभूत हो गड्ढे में बाँधे गये तथा नेत्र इन्द्रियों के विषय दोष से पतंग दीपक की ज्वाला में जलकर मर गये और भ्रमण नासिका इन्द्रियों के वशीभूत होकर सुगंध से मुग्ध होकर नाश को प्राप्त हुये। इसी प्रकार हिरन भी गीत में लोलुप हो कर्णेन्द्रियों के विषय से कालरूपी सर्प से मारे गये। ऐसे एक एक जीवों के द्वारा सभी जीव नष्ट होते देखे गये, किन्तु आश्चर्य है ! कि इस उत्तम कुल मनुष्य रत्न को पाकर प्राणी अनुपम सुख अर्थात् आत्म सिद्धि छोड़कर क्षणिक संसारी सुखों के पीछे ही पड़े रहते हैं ॥१७॥

कर्म बन्ध के कारण ऐसे विषय कषायादि चिंता से रहित आत्म ध्यान में लीन होना ही कर्म का नाश के कारण हैं।

स्वपुरोपार्चितपुण्यपापवशदिं सौख्या वहंगळ्दगु ।
ळ्दुप भोगक्ककु वंदोडागळरिवुळ्ळा सन्नभव्यं निर ॥
स्तपुरोवंधन हेतु भूतरति विद्वेषं निजात्मस्थितं ।
क्षपियिक्कुं कर्ममं तदनुगं निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१८॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहन्त भगवान्! आपके द्वारा पूर्व जन्म में संपादान किया हुआ पुण्य और पाप से सुख दुःख को अपेक्षा करके उसको अनुभव करते समय सम्यक्ज्ञानी ऐसे आसन्न भव्य जीव! पहले अपने कर्म बन्ध के कारण रागद्वेष को छोड़कर अपने आत्मचिंतन में मग्न होकर अनादि काल से अपने साथ किये हुये अपने समान ही इस जीवात्मा को बनाये हुये कर्म का नाश करता है ॥ १८ ॥

विवेचनः—ज्ञानी जीव पूर्व जन्म में उपार्जन किया हुआ पुण्य और पाप के अनुभव करतेहुये सम्यक्ज्ञानी आसन्न भव्य जीव पहले अपने कर्म बन्ध के कारण राग द्वेष को छोड़कर अपने आत्म चिंतन में मग्न होकर अनादि काल से अपने साथ लगा हुआ कर्म को नाश करता है।

प्रश्नः—ज्ञानी पर वस्तु को क्यों नहीं ग्रहण करता ?

समाधानः—जिस कारण वह ज्ञानी है वह पुरुष नियम पूर्वक यह जानता है कि वही उसका स्व, धन तथा द्रव्य है और उसी स्वभाव के पूरे द्रव्य का स्वामी है। ऐसे सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्व दृष्टि के अवलम्बन से आत्मा का परिग्रह अपना स्वार्थ स्वभाव ही है। ऐसा जानता है। इस कारण वह ज्ञानी पर द्रव्य को ऐसा जानता है कि यह मेरा स्व नहीं है। मैं इसका स्वामी नहीं हूँ। इस कारण पर द्रव्य को अपना नहीं मानता। मैं भी ज्ञानी हूँ अतः पर द्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

भावार्थः—लोक में यह रीति है कि समझदार पुरुष पर पदार्थ को अपना नहीं मानता तथा उसे ग्रहण नहीं करता। इसी तरह परमार्थी ज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना जानता है, पर को अपना नहीं जानता अतएव वह पर द्रव्य का सेवन नहीं करता।

जो अजीव द्रव्य को मैं ग्रहण करूँ तो वह अजीव द्रव्य मेरा स्व अवश्य हो जाय और मैं भी उस अजीव का अवश्य स्वामी ठहरूँ, क्योंकि यह नियम है कि अजीव का स्वामी निश्चय से अजीव ही होता है। इसलिये मुझे भी अजीव पना अवश्य आ पड़ेगा। अतएव एक ज्ञायक भाव ही मेरा स्व है और मैं उसी का स्वामी हूँ, जिससे मुझे अजीव पना न हो। मैं सर्वदा ज्ञानी रहकर पर द्रव्य को नहीं ग्रहण करूँगा, यह मेरा निश्चय है।

ज्ञानी पुरुष पर द्रव्य के बिगड़ने व सुधरने से हर्ष विषाद नहीं करता। इस प्रकार सामान्य से सभी परिग्रहों को छोड़कर अपने पर के अविवेक के कारण अज्ञान को छोड़ने का जिसका

मन है ऐसा ज्ञान इन परिग्रहों को विशेषक पृथक पृथक छोड़ने के लिये प्रवृत्त होता है।

यहाँ शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को नहीं भोगा ऐसा तो सुनने में नहीं आया अर्थात् तत्त्वज्ञानियों ने भी भोग भोगे हैं ऐसा पुराणों में सुना है,तब आपके इस उपदेश की कैसे श्रद्धा की जाय कि कौन वुद्धिमान इन विषयों का भोग करेगा? इस पर आचार्य कहते हैं कि वुद्धिमान लोग काम अतिशय रूप नहीं सेवते। इसका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी भोगों को हेय रूप श्रद्धान करते हुये भी चारित्र मोह के तीव्र उदय से उन भोगों को त्यागने के लिये असमर्थ होते हुये ही सेवते हैं, परन्तु चित्त में ज्ञान वैराग्य की भावना सदा जागृत रहती है, इस भावना के वल से जव उनका चारित्र मोह मंद हो जाता है तव इन्द्रिय ग्रामों को समेट कर अर्थात् संयम धारण कर शीघ्र ही आत्म कार्य के लिये उत्साहित हो जाते हैं।

जैसा कि कहा हैः—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो।
व्ययोय मनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम॥
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयति देश कालाविमा।
विति प्रति वितर्कयन् प्रयतते वुधो नेतरः॥

भाव यह है कि ज्ञानी वुद्धिमान मनुष्य ही इस जगत में निम्नलिखित वातों का अच्छी तरह विचार करता हुआ आचरण करता है अज्ञानी ऐसा कभी नहीं कर सकता।

१-यह फल है २-यह क्रिया है, ३-यह कारण या उपाय है, ४-यह उसके करने का क्रम है, ५-यह हानि या खर्च है, ६-यह उसके सम्बन्ध से फल है, ७-यह मेरी दशा है, ८-यह मित्र है, ९-यह शत्रु है, १०-यह ऐसा देश है, ११-यह ऐसा काल है।

अर्थात् तत्वज्ञानी धर्म का स्वरूप समझकर उसका आचरण द्रव्य, क्षेत्र तथा काल भाव को देखकर करता है।

यदि सर्वथा त्यागकर साधुव्रत धार सके तो धारता है अन्यथा गृहस्थ में रहकर हेय बुद्धि से भोग भोगता हुआ श्रावक धर्म को पालता है।

भावार्थः—आचार्य ने शिष्य के परिणामों को भोगोपर भोगों से हटाने के लिये और आत्म हित में लगाने के लिये ऐसा उपदेश दिया है कि यदि तू यह कहे कि भोगोपभोग संसार में सुख के कारण हैं इससे इनकी प्राप्ति के लिये तो धन कमाना ही चाहिए, किंतु तेरा यह मानना भी मिथ्या है, क्योंकि ये सांसारिक भोग अज्ञान से सुखदाई मालूम होते हैं, परन्तु ये दुःख के ही कारण हैं क्योंकि पहले तो विशेष भोग और उपभोग के पाने की इच्छा होती है। यह इच्छा ही दुःख है फिर जब तक यह इच्छा पूरी नहीं होती तब तक आकुलता रहती है तथा तब तक ईप्सित भोग सामग्री के लिये खेती वाणिज्य, सेवा और कठिन कठिन उपाय करके धन को कमाता है, जिस धन कमाने के कार्य में बहुत कुछ शारीरिक और मानसिक आतप सहता है। बहुतों को इस धन प्राप्ति के होने ही में बहुत विघ्न आ जाते हैं कदाचित् बहुत कष्ट

उठाने व पूर्व पुण्योदय से धन भी पैदा हो गया तो ईप्सित भोगोपभोग सामग्री को इकट्ठा करने के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है—बहुत कष्ट से मन पसन्द स्त्री, मकान, वस्त्र, सम्बन्ध तथा नौकर चाकरादि प्राप्त होते हैं। इस तरह भोग सामग्री के एकत्र करने ही में बड़ा कष्ट होता है—बड़े कष्ट से भोगों को पाने पर भी उनको पाँचों इन्द्रियों से भोगने की चेष्टा करता है। यदि कोई इन्द्रिय भोगने में असमर्थ होती है तो महान् कष्ट प्राप्त करता है। इन्द्रियों के द्वारा भोग भोगते भोगते भी इच्छा बन्द नहीं होती और अधिक तृष्णा बढ़ती चली जाती है। जिससे और अधिक मनोज्ञ सामग्री को इकट्ठा करने की आकुलता करता है। कदाचित् फिर भी मनोज्ञ सामग्री मिली और इन्द्रियों की शक्ति न घटी तो फिर उसे भोगते ही भोगते अन्य किसी मनोज्ञ भोग की इच्छा बढ़ जाती है। इस तरह कभी भी इसकी तृष्णा रूपी अग्नि शांति नहीं होती। उधर शरीर जराक्रान्त होकर छूटने के सन्मुख हो जाता है, पर इच्छा का स्रोत बढ़ता ही चला जाता है। भोगते भोगते यदि कोई योग्य सामग्री नष्ट होने व बिगड़ने लगती है तो भोक्ता को उसके वियोग का महान् कष्ट होता है।

और यदि कहीं अपनी आयु पूर्ण हुई और उन सामग्रियों को छोड़ना पड़ा तो और भी महान दुःख होता है। फिर इन भोग सम्बन्धी इच्छाओं के होने पर व इनको भोगते हुये तीव्र राग होने पर तथा इनके वियोग में आर्तध्यान होने पर जो तीव्र राग द्वेष के परिणाम होते हैं उनसे यह प्राणी अशुभ नाम, नीच गोत्र

असाता वेदनी तथा अशुभ आयु बाँध लेता है जिससे नरक, पशु व कुत्सित मनुष्य गति में चिरकाल भ्रमण कर असह्य वेदनाओं को सहन करता है।

ये भोग सदा ही आकुलता और दुःख के कारण हैं। कर्मभूमि (भूमि) के मनुष्यों को तीनों ही तरह से दुःख होता है अर्थात् उनकी प्राप्ति करने का, होने पर तृप्तता न पाने का तथा दुःखों से उनको त्यागने का, परन्तु भोगभूमि के मनुष्य और सर्व देवों के विषय भोगों की प्राप्ति का कष्ट तो नहीं है, किन्तु तृप्तिता न पाने का तथा दुःख से छोड़ने का दुःख तो अवश्य है। देवगण मरण के ६ मास पहले अपनी माला मुरझाई देख वहां के भोगों को छूटना मालूम कर महा विलाप करते हैं, जिसका कारण भी यही है कि भोगते हुये भी उनके मन की तृप्ति नहीं हो चुकी है इस तरह आर्तध्यान से देवता गण कोई एकेन्द्री कोई द्वि-इन्द्री आदि गतियों में पड़कर अनेक दुःख उठाते हैं।

जाती लिंगादि अभिमानी जीवों को मोक्ष की प्राप्ती नहीं है।

विदितं भविसे ज्याति लिंग सेरडुँ देहश्रितं देहम ।
प्पोडे जीवक्के भवप्रवंध मदरिंदं ज्याति लिंगर्गळों ॥
प्पुदि वोंदाग्रह मुळ्ळ वर्भवदे पिंगपिंगुवशुद्धचि ।
त्पद मोंदल्लदुदेल्लमं विसुटवर्निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥१६॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहन्त देव ! विचार कर के देखाजाय तो जाति और लिंग, यह शरीरके आश्रित हैं व शरीर संसार के कारण हैं। इसलिये ये जाति और लिंग के अभिमान से एकेक के ऊपर हटाग्रही करने वाले इस संसार से मुक्त नहीं हो सकते हैं। यह जीव शुद्ध चैतन्य रूप मैं हूँ इस प्रकार जानकर और उसके अलावा जाति और लिंग उसके वाह्य चिह तथा अभिमान इत्यादि त्याग करने वाला जीव ही इस संसार से मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं ऐसे आपने समझाया है ॥१६॥

विवेचनः—मिथ्यादृष्टी वहिरात्मा आत्मा के मिथ्या श्रद्धान से उत्पन्न हुआ अर्थात् अनात्मा शरीरादि वाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानता है। इस तरह के मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुए इस लोक व परलोक सम्वन्धी नाना प्रकार के क्लेश हैं किन्तु यदि वह जीवात्मा आत्मज्ञान से अर्थात् शरीरादि से आत्म स्वरूप का भेद ज्ञान प्राप्त कर लेता है तव वह आत्मस्वरूप का चिन्तन करके परम शांत हो जाता है। परन्तु जो उस आत्म स्वरूप के लिये

उद्योग नहीं करता वह उत्कृष्ट तप अर्थात् घोराघोर तपस्या करने पर भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता अर्थात् उसे सुख-शांति कभी नहीं मिल सकती।

भावार्थः—यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा को सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने पर विषय कषाय संबन्धी जैसी आकुलतायें होती हैं तथा विषयों की प्राप्ति के लिये मिथ्या, बुद्धि से अनेक दुर्गतियों में जाकर जो जो महान् कष्ट उठाने पड़ते हैं वे सभी दुःख आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर दूर हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष संसार में रहने पर भी दुःखी नहीं होता, क्योंकि वह इष्ट की प्राप्ति में हर्ष व अनिष्ट की प्राप्ति में विषाद नहीं करता, उपलब्ध हुये सुख दायक व दुःखदायक सभी वस्तुओं को समता भाव से ही सुख दुःख को भोगता है तथा पर लोक में भी अपने शुभ भावों के प्रताप से साताकारी सम्बन्धों में प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञानी को उसी मार्ग पर चलता है जो साक्षात् मोक्ष पद को प्राप्त करने वाला है। ऐसे उपरोक्त मार्ग में जाने पर विकट असाताकारी सम्बन्ध बहुत तुच्छ प्रतीत होते हैं।

समाधि शतक में पूज्य पाद आचार्य ने कहा है किः—

लिंगं देहाश्रितंगं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंग कृताग्रहाः ॥

अर्थः—जटा धारणादि अन्य मत के भेष व नग्नपना आदि जैन धर्म के भेष शरीर के आश्रय हैं। शरीर ही आत्मा का संसार है इस लिये जो भेष धारने में ही मुक्ति प्राप्ति का पक्ष रखने वाले

है कि बाहर का भेष ही मोक्ष का कारण है वे दुःख संसार से नहीं छूटते हैं। इसी प्रकार बाहरी भेष का संकल्प विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं है अतएव मोक्ष प्राप्तिके लिये भेषका अभिमान छोड़ना परमावश्यक है।

भावार्थः—यहाँ पर आचार्य ने इस विकल्प को त्याग करते हैं कि मैं साधु भेषधारी हूँ, अतः मैं अवश्य संसार सागर पार हो जाऊँगा। बाहरी भेष केवल अन्तरङ्ग चारित्र का कारण है। सो अन्तरङ्ग चारित्र वीतराग भाव रूप है, इसलिये बाहरी चारित्र भी वीतराग अवस्था का प्रकाश होना चाहिये। किसी प्रकार के राग का कारण भेष नहीं होना चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठ चारित्र के लिये श्रेष्ठ भेष नग्नपना तथा परिग्रह रहित पना है, इस लिये नग्न दिगम्बर भेष धारण करके अन्तरङ्ग चारित्र पालना चाहिये अन्तरङ्ग वीतरागता के लिये बाहरी वीतराग नग्नदशा निमित्त कारण है। मोक्ष कारण तो अन्तरङ्ग स्वात्मानुभव रूप वीतराग चारित्र है कोई बाहरी भेष भले ही बना ले, परन्तु भीतर वीतराग भाव व स्वात्मानुभव की जागृति जब तक नहीं होगी तब तक उसका बाहरी भेष उसे कभी मोक्ष मार्ग में नहीं ले जा सकता। इसलिये आचार्य ने यह कहा है कि जो ऐसा अहंकार करता है। कि मैं मुनि हूँ, त्यागी हूँ, तथा मैं मुक्त हो जाऊँगा वह विकल्प सहित होने से स्वानुभव के बाहर है। स्वानुभव में विकल्प रहित दशा होती है। वही अभेद या निश्चय रत्नत्रय मयी परिणति होती है। वही परिणति ही कर्मों की संहारिका है। इसलिये श्रद्धावान

को यह निश्चय रखना चाहिये कि आत्मा का भाव ही तारक भाव निवारक व सुखकारक है, अतः इस आत्म भाव की प्राप्ति के लिये जो जो निमित्त कारण हों उनको मिलाकर उस भाव को प्राप्त करना चाहिये। जैसे रोटी का पकना अग्नि से होता है, परन्तु अग्नि का लाभ तभी होता है जब कोयला या लकड़ी आदि सामाग्री इकट्ठा की जावें। उसी तरह कर्मों की निर्जरा उत्कृष्ट आत्मध्यान से होती है। यह आत्मध्यान तभी हो सकता है जब कि उसके लिये मुनि का नग्न भेष व अन्य व्यवहार चारित्र रूपी बाहरी सामग्री का सम्बन्ध मिलाया जावे। इसके अतिरिक्त जैसे कोई अग्नि जलाने के लिये लकड़ी आदि सामग्री तो इकट्ठा कर ले पर अग्नि जलाने का उद्योग नहीं करे तो कभी भी रोटी नहीं पक सकती उसी तरह कोई नग्न भेष तो भले ी धारण कर ले तथा इस भेष के अहंकार में उन्मत रहे, किन्तु आत्मानुभव व आत्मा ध्यान का कुछ भी यत्न न करे तो उसका केवल भेष धारण व व्यवहार चारित्र कर्मों की निर्जरा का कारण नहीं हो सकता, इस लिये भेष का विकल्प भी छोड़कर स्वात्मानुभवी होने का उपाय करना चाहिये ॥१६॥

पाप और पुण्य दोनों ही पाप के कारण है ऐसे जिन्होंने जानकर पाप को डरने वाले दोनों छोड़ देता है।

हत पापं वोलपुण्यमं शिवपद प्राप्तधर्मल्लादोडं।
प्रतिबन्ध प्रदमल्तु वर्णते गमहर्त्यक्क सुच्चैः कुलो ॥
दित संशोधकमल्ल दप्पुदरि नेंतु सर्व कर्मोत्कर।
क्षतियिंदल्लदे मुक्तियागदुवलं निर्वाण लक्ष्मीपती! ॥२०॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! शुभ को उत्पन्न करने वाला जो पुण्य है वह भी शुभ कर्म के बन्ध होने के कारण वह भी मोक्ष के लिये कारण नहीं है। परन्तु मोक्ष को प्रति बन्धक नहीं है। यह पुण्य कर्म अरहंत पद को प्राप्त होने इन्द्र धरणेन्द्र नारायण प्रति नारायण बलदेव, वासुदेव चक्रवर्ती, महान महान उत्तम तथा ऊँच वन्श, वर्ण उत्तम कुल वाले को उत्पन्न कर ने को निमित्त मात्र है, परन्तु इनका प्रति बन्धक नहीं है। यह पुण्य कर्म संसार के लालच को बढ़ाने के कारण बंध का कारण है। इस दृष्टि से देखने पर दोनों ही बन्ध के कारण हैं। इसलिये पुण्य और पाप दोनों मोक्ष के लिये कारण नहीं ॥२०॥

विवेचनः—हे जीव ! जो पाप के उदय जीव को दुःख शीघ्र ही मोक्ष के जाने योग्य उपाइयों में बुद्धिकर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं, ऐसा ज्ञानी कहते हैं।

भावार्थः—कोई जीव पाप करके नरक में गया, वहां परम हान दुःखभोगे उसमें किसी समय कुछ जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि उस जगह सम्यक्त्व की प्राप्ति के तीन कारण हैं, पहला तो यह है, कि तीसरे नरक तक देवता उन्हें संबोधने को जाते हैं, तो कभी कोई जीव के धर्म सुनने से सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दूसरा कारण पूर्व भव का स्मरण और तीसरा नरक की पीडा से दुःखी होकर नरक को महान् दुःख का स्थान जान। नरक के कारण जो हिंसा, भूठ, चोरी कुशील परिग्रह और आरम्भादिक हैं, उनको खराब जान के पाप से उदास होवे। तीसरे नरक तक ये तीन कारण हैं। आगे के चौथे पाँचवें छट्ठे, सातवें नरक में देवों का गमन न होने से धर्म श्रमण तो है नहीं लेकिन जाति स्मरण है, तथा वेदना से दुःखी होकर पाप से भयभीत होना ये दो ही कारण हैं। इन कारणों को पाकर किसी जीव को सम्यक्त्व हो सकता है।

इस नय से कोई भव्य जीव पाप के उदय से खोटी गति में गया, और वहाँ जाकर यदि सुलट जावे ? तथा सम्यक्त्व पावे, तो वह कुगति भी वहुत श्रेष्ठ है।

ऐसा योगीन्द्र आचार्य ने कहा भी है कि—जो पाप जीवों को दुःख प्राप्त कराके फिर शीघ्र ही मोक्षमार्ग में बुद्धि को लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे हैं। तथा जो अज्ञानी जीव किसी समय अज्ञान तप से देव भी हुआ हो और देव से मरके एकेन्द्री हुआ तो वह देव पर्याय पाना किस काम का। अज्ञानी के देव पद पाना भी व्यर्थ है। जो कभी ज्ञान के प्रसाद से उत्कृष्ट देव होने के

बाद अनन्त काल तक सुख भोगकर देव से मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्ष को पावें तो उसके समान दूसरा क्या होगा! जो भी निकलकर कोई भव्य जीव मनुष्य होकर महाव्रत धारण करके नरक से मुक्ति पावे, तो वह भी अच्छा है, ज्ञानी पुरुष ऐसे पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते हैं। जो पाप के प्रभाव से दुःख भोगकर उस दुःख से डरकर दुःख के मूल कारण पाप को जानकर उससे उदास हो गये, तो वे प्रशंसा करने योग्य हैं, पर पापी जीव प्रशंसा के योग्य नहीं हैं, क्योंकि पाप क्रिया सर्वदा निन्दनीय है। भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप श्री वीतराग देव के धर्म को जो धारण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करे तो भी ठीक है, क्योंकि शास्त्र का वचन है कि कोई भी महा भाग दुःखी हुये ही धर्म में लवलीन होते हैं।

फिर भी वे पुण्य अच्छे नहीं हैं, वे जीव को राज्य देकर शीघ्र ही दुःखों को उत्पन्न करते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। संबोधन के साथ जीव के लिये आचार्य कहते हैं कि हे जीव! जो अपने सम्यक्दर्शन के सन्मुख होकर मरण को भी पावे तो भी अच्छा है, परन्तु अपने सम्यक्दर्शन से विमुख हुआ पुण्य भी करे तो ठीक नहीं है।

निज शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप निश्चय सम्यक्त्व के सन्मुख हुये जो सत्पुरुष हैं वे इसी भव में युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन की तरह अविनाशी सुख को पाते हैं और कितने ही नकुल सहदेव की तरह अहमिन्द्र पद पाते हैं, पर सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टी जीव पुण्य करने पर भी मोक्ष के अधिकारी नहीं होते, वे

संसारी जीव ही हैं। इस लिये निश्चय से मिथ्यादृष्टियों के पुण्य का निषेध है। भेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखे सुने अनुभव किये भोगों की वांछारूप निदान बन्धके परिणामों सहित जो मिथ्यादृष्टी संसारी अज्ञानी जीव हैं उस से पहले उपार्जन किये हुये भोगों की वांछा रूप पुण्य के फल से प्राप्त हुई घर में संपदा होने से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट से पाप तथा पाप से भव-भव में अनन्त दुःख पाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टी जीवों का पुण्य पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, सगर, राम तथा पांडवादि विवेकी जीव हैं उनको पुण्यबन्ध अभिमान नहीं उत्पन्न करता, वह पुण्य परम्पराय मोक्ष का कारण है। जैसे अज्ञानियों के पुण्य का फल विभूति गर्व का कारण है, वैसे सम्यक्दृष्टियों के नहीं है। वे सम्यक्दृष्टी पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद अहंकारादि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष गये। अर्थात् सम्यक्दृष्टी जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद में भी निरहंकार रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य बुद्धि में शास्त्र मन में दया पराक्रम पर भुजाओं में शूर वीरता तथा याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्ष मार्ग में गमन हुये वे निराभिमानी हुये, जिनके किसी प्रकार का अहंकार नहीं हुआ, उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, परन्तु बड़ा अचम्भा है कि इस पंचम काल में मनुष्य के अन्दर लेश मात्र भी गुण नहीं है और उद्धतपना है। इनकी बुद्धि सर्वदा अभिमान में ही रहती है। कहा भी है किः—

दोहाः—देवहँ सत्थहँ मुनिवरहँ यो विद्देसु करेइ।
णिय में पाउ हवयि तसु जे संसारु भमेइ॥

अर्थः—सम्यक् पूर्वक जो देव, गुरु तथा शास्त्र की भक्ति करता है उसके मुख्य तो पुण्य होता है और परम्पराय मोक्ष होता है और जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टी जीव हैं उनके भाव भक्ति नहीं है, उनके लौकिक बाहरी भक्ति है उससे पुण्य का बन्ध होता है, पर कर्म क्षय नहीं होता।

यह कथन सुनकर कोई शंका करता है कि हे प्रभो! जब पुण्य मोक्ष का कारण नहीं है तब ग्रहण करने योग्य नहीं है और जो ग्रहण योग्य नहीं है तो भरत, सगर, राम तथा पांडवादिकों ने पंचपरमेष्ठी के गुण स्तवन क्यों किये? तथा दान पूजादि शुभ क्रियाओं द्वारा क्यों पुण्योपार्जन किया? उत्तर जिस प्रकार परदेश में स्थित कोई रामादिक पुरुष अपनी प्यारी सीता के पास से आये हुये किसी मनुष्य से बातें करता है तथा उसका सन्मान करते हुये उसे दान देता है।

ये सभी कारण अपनी प्रिया के लिये ही हैं, कुछ उसके प्रसाद के कारण नहीं हैं, उसी प्रकार वे भरत, सगर, राम तथा पांडवादि महापुरुष वीतराग परमानन्द स्वरूप मोक्ष लक्ष्मी के सुखामृत रस के प्यासे हुये सांसारिक स्थित छेदने के लिये विषय कषायों से उत्पन्न हुये आर्त रौद्र खोटे ध्यान के नाश का कारण श्री पंचपरमेष्ठी के गुणों की स्तुति तथा दान पूजा आदि करते हैं, पर उनकी दृष्टि केवल निज परिणति पर रहती है, पर वस्तु पर नहीं रहती। पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभ क्रिया के परि-

गति हुये जो भरतादिक हैं उनके विना चाहे ही पुण्य प्रकृति का आस्रव होता है। जैसे कृषक की दृष्टि अन्न पर रहती है, तृण भूसा आदि पर नहीं। विना चाहा पुण्य का वन्ध सहज ही में हो जाता है। वह उनको संसार में नहीं भटका सकता। अर्थात् वह जीव शिवपुरी का पात्र है। इसलिये यह पुण्य सम्यक्दृष्टियों के लिये मोक्ष तथा मिथ्यादृष्टियों के लिये वन्ध का कारण है।

इसलिये पाप और पुण्य के मिलने से मनुष्य गति का बन्ध होता है, मोक्ष नहीं मिलता।

कोई भव्य जीव व्यवहार रत्नत्रय साधन कर मोक्ष पदकर लेता है। कोई व्यवहार रहित होकर दीक्षा लेकर शीघ्र ही मोक्ष पद पाता है।

दिवदिंदं नृपेंद्र तीर्थंकर राज्य श्रीयुमं विटडु भू ।
भुवनं वंशिसे दीक्षे गोंडनु मधोलोकोद्गतं भिक्षुभ ॥
व्यवरं आत्रेयनिक्कि लब्धि वशदिंदं दीक्षेयं गोंडनुं ।
भवदिं पिंगिदोडाव भेदम रोळ्निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥२१॥

अर्थः—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! कोई भव्य जीव स्वर्ग से आकर चक्रवर्ती और तीर्थंकर होकर मध्यलोक संबंधी अनेक भोग संपत्ति को भोगकर अंत में उसको त्यागकर लोकोत्तर श्रेष्ठ निज दीक्षा को धारणकर मोक्ष पद को पाते हैं। और कोई अन्य भव्य जीव सत्पात्र को भक्ति पूर्वक आहार शास्त्र औषधि, अभय इन चार प्रकार के दान को देकर काल लब्धिको पाकर जिन दीक्षा धारण करके इस संसार समुद्र से मुक्त होकर मोक्ष पदको पाते हैं। इन दोनों में क्या भेद है ? अर्थात् कुछ भी भेद नहीं है, दोनों ही समान हैं ॥ २१ ॥

विवेचनः—कोई भव्य जीव भाव पूर्वक सम्यग्दर्शन विशुद्ध आदि षोडश कारण भावना भावे। यह भावना सोलह प्रकार है।

इसका वर्णन अलग अलग करेंगे । और तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्ति करलेवें।

दर्शन विशुद्धि—विनय सम्पन्नता, शील और व्रतों में अतीचार न लगना, अभीक्ष्ण, ज्ञानोपयोग और संवेग यथा शक्ति त्याग और तप, साधु, समाधि वैयावृति, अरहंत भक्ति, आचार्यभक्ति वहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहारिणि, मार्ग प्रभावना और प्रवचन वत्सलता ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हैं।

दर्शन विशुद्धिः—पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का नाम दर्शन विशुद्धि है। दर्शन विशुद्धि को पृथक् इसलिये कहा है कि जिन भक्ति रूप या तत्वार्थ श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन अकेला भी तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण होता है। यशस्तिलक में कहा भी है कि—"केवल जिन भक्ति भी दुर्गति के निवारण में, पुण्य के उपार्जन में और मोक्ष लक्ष्मी के देने में समर्थ है।" अन्य भावनायें सम्यग्दर्शन के विना तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण नहीं हो सकतीं अतः दर्शन विशुद्धि की प्रधानता वतलाने के लिये इसका पृथक् निर्देश किया है।

दर्शन विशुद्धिका अर्थ-इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय अगुप्तिभय, मरणभय, वेदना भय और आकस्मिक भय इन सातों भयों से रहित होकर जैनधर्म का श्रद्धान करना निःशङ्कित है। इस लोक और परलोक के भोगों की आकांक्षा नहीं करना निःकांक्षित है। शरीरादिक पवित्र हैं इस प्रकार की मिथ्याबुद्धि का अभाव निर्विचिकित्सता है अरहंत को छोड़कर अन्य कुदेवों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण नहीं करना अमूढ़दृष्टि है। उत्तम

क्षमा आदि के द्वारा आत्मा के धर्म की वृद्धि करना और चार प्रकार के संघ के दोषों को प्रकट नहीं करना उपगूहन है। क्रोध मान, माया और लोभादिक धर्म के विनाशक कारण रहने पर भी धर्म से च्युत नहीं होना स्थिति करण है।

जिन शासन में सर्वदा अनुराग रखना वात्सल्य है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा आत्मा का प्रकाशन और जिन शासन की उन्नति करना प्रभावना है। सम्यक्दर्शन के इन आठ अँगों का सद्भाव तथा तीन मूढ़ता, छह अनायतन और आठ मदों का अभाव, चमड़े के पात्र में रक्खे हुये जल को नहीं पीना और कन्दमूल, कलिंग, सूरण, लशुन आदि अभक्ष्य वस्तुओं को भक्षण न करना आदि को दर्शन विशुद्धि कहते हैं।

रत्नत्रय और उनके धारकों का महान् आदर और कषाय का अभाव विनय सम्पन्नता है। पाँच व्रत और सात शीलों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शील व्रतेष्वनतिचार है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को निरूपण करने वाले ज्ञान में निरन्तर उद्यम करना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग हैं। संसार के दुःखों से भयभीत रहना संवेग है। अपनी शक्ति के अनुसार आहार, भय और ज्ञान का पात्र के लिये दान देना शक्तितस्त्याग है। अपनी शक्ति पूर्वक जैन शासन के अनुसार कायक्लेश करना शक्तितस्तप है। जैसे भाण्डागार में आग लग जाने पर किसी भी उपाय से उसका शमन किया जाता है उसी प्रकार व्रत और शील सहित यति जनों के ऊपर किसी निमित्त से कोई विघ्न उपस्थित होने पर उस विघ्न को दूर करना साधु समाधि है। निर्दोष विधि से गुणवान पुरुषों के दोषों को

दूर करना वैयावृत है। अरहन्त का अभिषेक, पूजन गुण स्तवन, नाम का जप आदि अर्हद्भक्ति है। आचार्यों को नवीन उपकरणों का दान उनके सन्मुख गमन, आदर, पादपूजन, सम्मान और मनः शुद्धि युक्त अनुराग का नाम आचार्य भक्ति है। इसी प्रकार उपाध्यों की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है। रत्नत्रय आदि के प्रतिपादक आगम में मनः शुद्धि युक्त अनुराग का होना प्रवचन भक्ति है। सामायिक स्तुति चौवीस तीर्थंकर की स्तुति वन्दना, एक तीर्थङ्कर स्तुति, प्रतिक्रमण-कृतदोषनिराकरण, प्रत्याख्यान नियत काल आगामी दोषों का परिहार और कायोत्सर्ग शरीर से ममत्व का छोड़ना इन छह आवश्यकों में यथा काल प्रवृत्ति करना आवश्कयापरिहारिणि है। ज्ञान, दान, जिन पूजन और तप के द्वारा जिन धर्म का प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। गाय और बछड़े के समान प्रवचन और साधर्मी जनों में स्नेह रखना प्रवचन वत्सलत्व है। ये सोलह भावनायें तीर्थङ्कर प्रकृति के वन्ध का कारण होती हैं। इससे अनेक भोग सामग्री मिलती है, परन्तु इससे शीघ्र ही विरक्त होकर अरहंत पदको प्राप्त होता है। दूसरा कोई भव्य जीव गृहस्थावस्था में रहते हुये भी सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजा और चार सत्पात्र का दान संयम व्रत नियम इत्यादि साधन के द्वारा अभ्यास करते हुये सांसारिक भोग संपत्ति से विरक्त होकर जिन दीक्षा धारण कर घोराघोर तपश्चर्या के द्वारा कर्म की निर्जरा कर के मोक्ष पद को पाते हैं। परन्तु इन दोनों में कोई भी भेद नहीं है, दोनों समान हैं ॥ २१ ॥

मोक्ष के प्रति बंधक मिथ्यात्व है

अदरिं भव्यन दर्शनोन्मुखतेयं वैराग्य संपत्तियुं ।
पदुळं नीक्षेयनांपुदुं जिनमतात्र्या द्बोधमुं संयमा ॥
भ्युदय प्राप्तियु मप्रसादतेयु मात्मध्यानमुं वार्तेय ।
ललदे मुन्नाद विभावमेल्लमफलं निर्वाण लक्ष्मीपति!॥२२॥

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मीके अधिपति हे अरहंत भगवान्! इसकारण भव्य जीव सम्यक्त्व में स्थिरता, वैराग्य भाव होना, संक्षेप के साथ दीक्षा धारण करना, जैनागम के रहस्य को समझना, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होना, और अभ्युदयकी प्राप्ति तथा प्रमाद रहित होना व आत्मध्यान में लीनता, यह सभी जीव के साथ अनादि परम्परा से आये हुये हैं। परन्तु इसके विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि विभाव परिणाम जो है, वह सभी जीव को निष्फल है, अर्थात् हेय है ॥ २२ ॥

विवेचन—जो सम्यक्दृष्टि जीव अपने आत्मा को अपने से ही आपको निर्विकल्प रूप देखता है, अथवा तत्वार्थ श्रद्धान की अपेक्षा चंचलता और मलिनता तथा शिथिलता इनका त्यागकर शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार रुचिरूप निश्चय करता है, वीतराग स्व संवेदन लक्षण ज्ञान से जानता है और सब रागादिक विकल्पों के त्याग से निज स्वरूप में स्थिर होता है सो निश्चय रत्नत्रय को परिणत हुआ पुरुष ही मोक्ष मार्ग है।

सार यह है कि—हे जीव! तू तत्वार्थ का श्रद्धान, शास्त्र का

ज्ञान, और अशुभ क्रियाओं का त्यागरूप सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहार मोक्ष मार्ग को जान, क्योंकि ये निश्चय रत्नत्रय रूप निश्चय मोक्ष मार्ग के साधक हैं, इनके जानने से किसी समय परम पवित्र परमात्मा हो जायगा, पहले व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जावे, तब निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है। जो अनन्त सिद्ध हुये और होंगे वे पहले व्यवहार रत्नत्रय को पाकर निश्चय रत्नमय रूप हुये। व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। व्यवहार और निश्चय को मोक्ष मार्ग का स्वरूप कहते हैं, वीतराग सर्वज्ञ देव कहे हुये छह द्रव्य, सात तत्व नौ पदार्थ, पंचास्तिकाय, इनका श्रद्धान, इनके ज्ञान रूप का ज्ञान और शुभ क्रिया का आचरण, यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है, और निज शुद्ध आत्मा का सम्यक्श्रद्धान स्वरूप का ज्ञान, और स्वरूप का आचरण यह निश्चय मोक्ष मार्ग है। साधन के विना सिद्धि नहीं होती। इस लिये व्यवहार के विना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय धर्म और निश्चय रत्नत्रय धर्म ये दोनों मार्ग अनादि काल से जीव के साथ आये हुए हैं और इस के साधन से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। परन्तु इसके विपरीत मिथ्यात्व मार्ग का अनुभव या साधन करने से मोक्ष की प्राप्ति जीव को नहीं हो सकता है। क्योंकि ये सभी आत्मासे भिन्न विभाव परिणति होने के कारण राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं अर्थात् चारों गति के भ्रमण के कारण हैं और हेय हैं।

जीव संकोच विस्तार वाले भी और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाले भी

तनु मात्रं युत बोध दर्शनन संख्यात प्रदेशं प्रसि ।
ध्दन मूर्त प्रभु कर्तृ भोक्तृ नियतं संहार विस्तार श ॥
क्ति नियुक्तं भवमुक्त नूर्ध्वगति शीलं प्राण भृज्जीवनें ।
तुँविनि ताने विशिष्ट जीव कथनं निर्वाण लक्ष्मीपती!॥२३॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहंत भगवान्! यह जीवात्मा अनादि काल से अपने प्राप्त किये हुये, शरीर प्रमाण पना, ज्ञानदर्शनपना, असंख्यात प्रदेश पना, अमूर्त पना, समर्थ पना, और पाप पुण्य का कर्तृत्वपना, उसके फल को भोक्तृत्वपना संकोच विस्तार कि शक्तिपना और संसार से मुक्त होने की ज्ञान पना, व ऊर्ध्वगमन स्वभाव पना यह सभी जीवात्मा में रहने वाले विशेषगुण नहीं क्या? अर्थात् सभी विशेषगुण जीवात्मा में रहने वाले गुण हैं यही आपका कहने का सार है ॥२३॥

विवेचनः—यह आत्मा छोटे बड़े शरीर प्रमाण भी है, दर्शन ज्ञान मय भी है, असंख्यात प्रदेशी भी है, अमूर्त है, सामर्थ्य भी है और पाप पुण्य के कर्ता भी है, उसके फल को भोगने वाला भी है, संकोच विस्तार तथा दन्ड प्रतर कपाट लोकपूरण इत्यादि समुद्धात करने वाला भी है, स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। ये सभी आत्मा में रहने वाले विशेषगुण हैं। यह जीव अनादि काल से अपने पूर्व में किये हुए कर्म के अनुसार छोटे बड़े शरीर

को धारण करने वाला कहलाता है। और हमेश आत्मा में ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले होने के कारण ज्ञानदर्शन वाले कहते हैं तथा बन्ध वाले भी हैं और बन्ध से मुक्त होने के कारण मुक्त भी है कहा भी है किः—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढ गई॥

भावार्थः—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से आदि मध्य और अन्त से रहित निज तथा पर का प्रकाशक उपाधि रहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य रूप निश्चय प्राण हैं, उससे जीता है। तथापि शुद्ध निश्चयनय से अनादि कर्म बन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भावप्राण हैं, उनसे जीता है इस लिये जीव है यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परिपूर्ण तथा निर्मल ऐसे जो ज्ञान और दर्शनरूप दो उपयोग हैं स्वरूप जीव है तथापि अशुद्ध नय से क्षयोपशमिक ज्ञान और दर्शन से रचा हुआ है, इसकारण ज्ञानदर्शनोप योगमय है। जीव व्यवहार नय से मूर्त कर्मों के आधीन होने से स्पर्श, रस गंध और वर्ण वाली मूर्ति से सहित होने के कारण मूर्त है तथापि निश्चय नय से अमूर्त इन्द्रियों के अगोचर शुद्ध और अशुद्धरूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्त है। कर्ता—यह जीव निश्चय नय से क्रिया रहित टकोत्कीर्ण (निरुपधि) ज्ञानैक स्वभाव का धारक है तथापि व्यवहार नय से मन, वचन तथा काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से रहित होने के कारण शुभ अशुभ कर्मों का करने वाला है, इसलिये कर्ता है।

सदेह परिमाणोः—यद्यपि जीव निश्चय स्वभाव से उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशों का धारक है तथापि शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के आधीन होने से घट आदि भाजनो में स्थित दीपक की तरह निजदेह को परिमाण है।

भोक्ताः—यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादि विकल्प रूप उपाधियों से शून्य है और अपनी आत्मा से उत्पन्न जो सुख रूपी अमृत है, उसका भोगने वाला है। तथापि अशुद्धनय से उस प्रकार के सुखरूपअमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न जो दुःख है उनका भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है।

संसारस्थ—संसार में स्थित है, अर्थात् संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसार रहित है और नित्य आनंद रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य क्षेत्र काल, भव और भाव इन भेदों से पाँच प्रकार का संसार में रहता है इस कारण संसारस्थ है।

सिद्धो—सिद्ध है, यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से निज आत्माकी प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है तथापि निश्चय नय से अनंत ज्ञान और अनंत गुण स्वभाव का धारक होने से सिद्ध है। सो वह "विस्ससोढ गई"।

स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करने वाला है। इस प्रकार यह सभी गुण आत्मा के अन्दर ही है।

भगवान असंख्यात प्रदेशी भी हैं मूल शरीरसे कुछ कम भी हैं।

चरमांग प्रमुचिद्घनाकृतिये पेचं कुँदनन्यांगदो।
ळ्पोरेपिल्लप्पुदरिदंमितु मुचितासंख्यप्रदेशं ग्रेत्रं ॥
धुरनष्टाष्टकळंक नष्ट गुण नानंदात्मकं लोकभू।
धर चुडामणि सिद्धनेंदरिपिदै निर्वाणलक्ष्मीपती!॥२४॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान्! सिद्ध भगवान् अपने अन्तिम शरीर से कुछ न्यून और चिदानंद मयी तथा पर शरीर प्रवेश के कारण न्यूनाधिक से रहित और समान असंख्यात प्रदेश वाला तथा सुन्दर अष्ट कर्मों से रहित व क्षायिक सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त आनंद स्वरूप और लोकरूपी पर्वत को चूडामणि रत्नके समान (लोक सिखरपर वास) होकर रहने वाला है ऐसा आपने समझाया है॥ २४॥

कहा भी है किः—

णिक्कम्मा अट्ठ गुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादव एहिं संजुत्ता॥

गाथा भावार्थः—जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वंआदि आठ गुणों के धारक हैं तथा अंतिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में स्थित हैं, नित्य है तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त हैं।

विशेषार्थः—कर्म रूपी शत्रुओं के विध्वंस करने में समर्थ अपने शुद्ध आत्मा के बल से ज्ञानावरणादि समस्त मूल्य प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों के विनाशक होने से अष्ट विधि कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं तथा "सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म अवगाहन, अगुरू लघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं' इस गाथोक्त क्रम से उन अष्ट कर्म रहित सिद्धों के आठगुण कहे जाते हैं। अब उन गुणों को विस्तार से दर्शाते हैं:—केवल ज्ञान आदि गुणों का स्थान रूप जो निज शुद्ध आत्मा है वही ग्राह्य है इस प्रकार की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण करने की अवस्था में उत्पादित किया था उसका फलभूत समस्त जीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (जो पदार्थ जिस रूप है उसके विरुद्ध आग्रह) से मुख्य परिणाम रूप परम क्षायिक सम्यक्त्व नामा प्रथम गुण सिद्धों के कहा गया है। पूर्व काल में छद्मस्थ अवस्था में भावनागोचर किये हुये विकार रहित स्वानुभव रूप ज्ञान का फलभूत एक ही समय में लोक तथा अलोक के संपूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए विशेषों को जानने वाला दूसरा केवल ज्ञान नामा गुण है।

संपूर्ण विकल्पों से शून्य निज शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन (दर्शन) रूप जो पहले दर्शन भावित किया था उसी दर्शन का फल भूत एक काल में ही लोक अलोक के संपूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए सामान्य को ग्रहण कराने वाला केवल दर्शन नामा तृतीय गुण है। अतिघोर परीषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय में जो पहले अपने निरञ्जन परमात्मा के ध्यान में धैर्य

का अवलम्बन किया उसी फलभूत अनन्त पदार्थों के ज्ञान में खेद के अभावरूप लक्षण का धारक चतुर्थ अनन्त वीर्य नामक गुण है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल ज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूपको सूक्ष्म कहते हैं। यह सूक्ष्मत्व पंचमगुण है। एकदीपक के प्रकाश में जैसे अनन्त दीपकों के प्रकाशका समोवश हो जाता है उसी प्रकार एक सिद्ध के क्षेत्र में से कर तथा व्यतिकर दोष के परिहार पूर्वक जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने का सामर्थ है वही छठा अवगाहन गुण कहा जाता है। यदि सिद्ध स्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहपिंड के समान उसका अधः पतन (नीचे गिरना) ही होता रहे और यदि सर्वथा लघु (हलका हो) तो वायु से ताड़ित आक वृक्षकी रुईके समान उसका निरन्तर भ्रमण ही होना रहे, सिद्ध स्वरूप ऐसा नहीं है इसलिये सातवां अगुरुलघु गुण कहा जाता है। स्वभाव से उत्पन्न और शुद्ध जो आत्म स्वरूप है उससे उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित ऐसे सुखरूपी अमृत का जो एक देश अनुभव पहले किया उसी का फल रूप अव्यावाध अनन्त सुख नामक अष्टम गुण सिद्धों में कहा जाता है। ये जो सम्यक आदि अष्ट गुण कहे गये हैं सो मध्यमरुचि के धारक शिष्यों के लिये हैं। और विस्तार में मध्यम रुचि के धारक शिष्य के प्रति तो विशेष भेद नभका अवलम्बन करने से गति रहितता, इन्द्रिय रहितता, शरीर रहितत्व, योगरहित्व, वेद रहितता कषाय रहितत्व, नाम रहितत्व गोत्ररहितत्व तथा आयु रहितत्व आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे अपने जैनागम के अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिये।

अहिंसा इत्यादि व्रतोंसे विशुद्ध भाव रखते हुये रागद्वेष को कम करते जाना यही आत्म शुद्धी के कारण हैं।

व्रतदिंदं परिशुद्धरागि मतियं जैनागमार्थंगळोळ् ।
रतियं माडि तदर्थं तिळिदु सर्वग्रंथमं विट्टु सं ॥
हृतरागादि विभाव रात्म पददोळ्योगींद्ररिर्पंते सं ।
वृत रेम्मं दिगरीगळेंतु नेरे व निर्वाण लाक्ष्मीपति ! ॥२५॥

अर्थः—हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! जो जीव अहिंसा इत्यादि व्रतों से परिशुद्ध होकर जैन शास्त्र में भक्ति और प्रेम रखकर उसके अर्थ को ठीक तरह से समझकर अन्त में सभी वाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह को त्यागकर रागद्वेष इत्यादि विभाव परिणति को दूरकर आत्मसम्पन्न तथा श्रेष्ठ और श्रेष्ठ हुआ मुनि के समान जितेन्द्रिय होकर आत्म चिंतन में रत रहने वाले श्रावक को वन्धु तथा अन्य कुटुम्बी लोग इत्यादि लोगों के द्वारा उपद्रव होगा क्या ? नहीं ऐसे सत्पुरुष को कोई भी उपद्रव न करके उनको सहायक वन जाते हैं, यही अभिप्राय आपका है॥२५॥

विवेचनः—द्रव्य और भावरूप जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इनके त्यागरूप पांच व्रत हैं। ऐसे कहे हुए लक्षण के धारक जो तप, श्रुत और व्रत हैं, इनके सहित हुआ पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है। और तप, श्रुत तथा व्रतरूप ही ध्यान की सामग्री है सो ही कहा कि "वैराग्य तत्वों

का ज्ञान बाह्य आभ्यंतर रूप दोनों परिग्रहों से रहित पना, राग और द्वेष की रहिततारूप साम्यभाव का होना और बाइस परीषह को जीतना ये पांचों ध्यान के कारण हैं।

शंकाः—ध्यान तो मोक्षका मार्ग भूत है, अर्थात् मोक्ष का कारण है और जो मोक्ष को चाहने वाला पुरुष है उसको पुण्यबंध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है अर्थात् व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य बन्ध संसार का कारण है, इसलिये मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है, अपने तप श्रुत और व्रतों को ध्यान की पूर्णता के कारण कहे सो यह आपका कथन से सिद्ध होता है ?

समाधानः—केवल व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नहीं किन्तु पाप बन्ध के कारण जो हिंसा आदि भेदों के धारक अव्रत हैं वे भी त्यागने योग्य हैं। सो ही श्री पूज्य पाद स्वामी ने कहा है कि हिंसा आदि अव्रतों से पाप का बन्ध होता है, और अहिंसादि व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है, तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनों के नाश से होता है, इस कारण मोक्ष का चाहने वाला पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे।१। विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्यागकरे पश्चात् व्रतोंका धारक होकर निर्विकल्प समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एक देश व्रतों का भी त्याग कर देता है। यह भी उन्हीं श्री पूज्य पाद स्वामी ने

समाधि शतक में कहा है कि "मोक्ष का चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परम पद को पावै और उस आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों का भी त्याग करै।

इस पंचमकाल में अल्पज्ञानी को धर्म ध्यान ही होता है धर्म ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

अदरिं निन्न पदाब्जमं नेनेव निन्नकारमं नोळ्पनि।
न्नदयामूल चरित्र दोळ्नेगळ्व निन्नोंदुत्तियं केळ्व पेळ्वु॥
दिदेल्लं मद्विधर्गायतु देव शरणं स्वस्थत्वमिल्लप्पका।
लदोळी मार्गंमे मेळु कुडुवदरिं निर्वाण लक्ष्मीपति! ॥२६॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति हे अरहन्त भगवान्! आप के चरण कमल का स्मरण करना, आप के मंगलमय स्वरूप को देखना, आप के दयामय चरित्र में प्रसिद्ध होना आप के वचनामृत रूपी शास्त्र को सुनाना तथा सुनना इस पंचम काल में हमारे ऐसे चंचल चित्त वाले अज्ञानियों को निरन्तर चिंतन करना चाहिये, क्योंकि आप ज्ञानी व अज्ञानी सभी प्राणियों के संरक्षक हैं॥२६॥

विवेचनः—भगवान की स्तुति, जाप तथा स्मरण करना उनके रूप को प्रेम पूर्वक देखना, उनके दयामय चारित्र में प्रसिद्ध प्राप्त करना तथा, उनके वचनामृत रूपी शास्त्र को मनन करना आदि शुभ भाव इस पंचम काल के अस्थिर बुद्धि वाले अल्पज्ञानिनों के लिये रक्षक हैं। इसलिये सभी प्राणियों को धर्मध्यान का अवलम्बन करना चाहिये।

सारांश यह है कि—इस पंचम काल में तीन शुभ संहनन

नहीं है। अर्थात् मनुष्यों की हड्डी वज्र वृषभनाराच, वज्र नाराच तथा नाराच संहनन रूप नहीं है। तीन उत्तम संहनन धारी ही उपशम श्रेणी पर चढ़ कर आठवें गुण स्थान में जा सकते हैं। आजकल तीन हीन संहनन हैं इस लिये सातवें गुण स्थान तक सम्भव है। आगे शुक्लध्यान हैं, सो नहीं है। धर्मध्यानमें आत्माका ध्यान भले प्रकार से किया जा सकता है। चौथे अविरत सम्यक्द-र्शन गुण स्थान में धर्म ध्यान या आत्म ध्यान हो सकता है इस धर्म ध्यान में शुभ योग मन्द कषाय के उदय से गर्भित है

इससे विशेष पुण्य का वन्ध हो सकता है और यह जीव स्वर्ग में उत्तम देव हो सकता है। वहाँ से चौथे काल में उत्पन्न होकर मानव भाव से तप साधन करके कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है।

कुंद कुंदाचार्य जी ने मोक्ष पाहुड में कहा है कि:—

> भरहे दुस्समे काले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
> तं अप्प सहावठिदेण हुमरणाइ सोवि अणाणाणि॥

भरहे:—भरत क्षेत्रे भारत वर्षे, दुःष मे काले पंचम काले, कलि काल परनाम्नि काले। धम्मज्झाणं पवेइ साहुस्स,—धर्म ध्यानं भवति साधोर्दिगम्बरस्य मुनेः तं अप्प सहावठिदे—तद्धर्म ध्यानं आत्मस्वभाव स्थिते आत्मभावना तन्मये मुनौ भवति। ण हु मराणइ सोवि अण्णाणि न मन्यते नांगी करोति। सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिन सूत्र वाह्यः।

भावार्थः—इस भरत क्षेत्र में दुःषम नाम के पंचम काल में

वहाँ से चलकर इस भरत क्षेत्र में उत्तम कुल में जन्म लेकर सांसारिक सुखका अनुभव कर अन्त में दीक्षा ग्रहण करके कर्मक्षय करके मोक्ष चले जाते हैं इसलिये भव्य जीव इस पंचम काल में सम्यक्त्व सहित धर्म ध्यान करना चाहिये।

परमेशं परमेष्ठि शंभुवभवं ब्रह्मं शिवं शंकरं ।
स्मरसंहारकन च्युतं पुरहरं बुद्धं जिनं विष्णुवें ॥
दरहस्यं प्रभुशुद्धनेंदु नेगळ्दिर्दितप्प नामानियं ।
परमार्थ तळेदर्थमप्पुददु तां निर्वाण लक्ष्मीपती ! ॥२७॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवान् ! आप परमेष्टीः—उत्तम स्थान में श्रेष्ठ स्वामी (परमेश्वर) हैं।

अभवः—संसार रहित रहने वाले हैं।

शम्भूः—सुख को उत्पन्न करने वाले हैं,

ब्रह्मः—ज्ञानवान, शिवः—मंगल कारक, शंकरः—सुख कारक

स्मरसंहारकः—काम विकार को बिलकुल आपने नष्ट कर दिया है,

अच्युतः—हमेशा अचल रहने वाले तथा निश्चल अपने स्व २ रूप में रहने वाले और अचल अनन्त सिद्धशिला में रहने के कारण आप अच्युत हैं।

पुरहरः—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय, और अन्तराय कर्म को निर्मूल तथा नाश किया हुआ है।

जिनः—कर्म वैरी को या पांचों इन्द्रियों को जीतने के कारण जिन हैं।

विष्णुः—सर्व लोक में व्यापक सर्वदेशी, सर्वज्ञ सदा शिव सहिष्णुता होने के कारण आप विष्णु कहलाते हैं। इस प्रकार कहने वाले यह रहस्य जो उस पद को समर्थ ऐसा परिशुद्ध परमात्मा के नाम के प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार जो नाम है यह सभी परमार्थ और सार्थक है यही इसका भाव है ॥२७॥

भवविध्वंसन वास्तवस्तवमनोंदं पेळु नीनेंदुभ ।
व्यवर प्रेरणेयिंद मिंतु सुजनोत्तंसं लसद्वृत्तस ॥
च्छविमुक्तागण दिंदे निर्मिसिदुदी निर्वाण लक्ष्मीपती ।
स्तवविभ्राजिके भव्य कंठकलितं नक्षत्र मालोपमं ॥२८॥

इस संसार समुद्र पार हुआ उस भगवान के तथा परमात्म (जिनेश्वर) के यथार्थ ऐसा स्तोत्र आपको (वप्पन कवि) रचना चाहिये इस प्रकार भव्यजीवों की प्रेरणा से इस सुजनोत्तमंस (सत्पुरुषोंमिं श्रेष्ठ ऐसा कवि) ऐसा वप्पन कवि से रचा गया हुआ श्रेष्ठ और वृत्ताकार ऐसे अच्छे वृत्तों से मिला हुआ तथा अच्छे अनेक उत्तम कांति और गुणों से युक्त, मोती के समूह जैसा अनेक वर्णों से युक्त भव्यों के गले में नक्षत्र माला समान शोभनेवाली अर्थात् नक्षत्र माला के समान विशेष अतिशय को प्राप्त हुआ अथवा अश्विन्यादि २७ नक्षत्र उसी तरह २८ नक्षत्र के समान इसस्तोत्रमें २८ श्लोक हैं । इस श्लोकमें जो भव्यजीव नित्य नियम से पढ़ेगा और याद करेगा उनका कल्याण इहलोक और परलोक में होगा तथा सुख पावेगा, यह श्लोक भी इस लोक में सूर्य चंद्र रहने तक यह लोक भी जयवंत रहे । ॥ २८ ॥

आचार्य देशभूषण महाराज भव्य जीवों के हित के लिये इस कन्नड़ काव्य का अनुवाद और विवेचन बहुत सरल हिंदी भाषा में करके भव्य जीवों के कल्याणार्थ दिगम्बर जैन महिला समाज द्वारा वितरण कराया है इसलिये हे भव्य जीवो ! इसको पढ़कर अपना हित कर लेवें।

॥ इति ॥

॥ भजन संग्रह ॥

भजन नं० १

तर्ज—काहे होत अधीर

धीर बँधाओ धीर मुनिवर
धीर बँधाओ धीर ।

कौंथिलपुर में जन्म लिया है ।
अवध में आ उपदेश दिया है ।
महिमा सुनकर शरण लिया है ।
हरो हमारी पीर ॥मुनिवर०॥

अक्का देवी के राज दुलारे ।
सत्य गौड़ के हो तुम प्यारे ॥
भव सिन्धु से क्यों न उभारो ।
आये तुम्हारे तीर ॥मुनिवर०॥

अज्ञानी को ज्ञान बतादो ।
अपनी महिमा को दर्शा दो ॥
रमा को भव से पार लगा दो ।
काटो कर्म जंजीर ॥मुनिवर०॥

भजन नं० २

जिन रागद्वेष त्यागा वो सतगुरु है हमारा ।
तजि राज रिद्धि तृणवत निज काज को सँभारा ॥ टेक ॥
रहता है वह वन खँड में धर ध्यान कुठारा ।
जिन मोह महातरु को जड़ मूल उखाड़ा ॥ १ ॥
सर्वाङ्ग तज परिग्रह दिगम्बर व्रत धारा ।
अनंत ज्ञान गुण, समुन्द्र चारित्र भंडारा ॥ २ ॥
शुक्लाग्नि को प्रजाल के वसु कानन जारा ।
ऐसे गुरू को दौल है नमोस्तु हमारा ॥ ३ ॥
दोहा—दौल समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोये ।
ये नर भव फिर मिलन कठिन है सम्यक नहि होवे ॥

भजन नं० ३

टूटा न मोह का जाल करम तेरे कैसे कटें भारी ॥ टेक ॥
एक तौ की हिंसा दुखकारी, दूजे झूठ चोरी धन धारी ।
शील डिगाया लख परनारी ली परिग्रह सारी ॥ १ ॥
मदिरा माँस तूने नित खाया गणिका संग रह कर सुख पाया ।
द्यूत खेल आखेट रचाया, कर दिया जीवन परिहारी ॥ २ ॥
काम क्रोध माया में लागा, लोभ किया अरु सत को त्यागा ।
न्यामत नाम धर्म सुन भागा करी कुकत यारी ॥ ३ ॥

भजन नं० ४

समझ मन स्वारथ का संसार ॥

हरे वृक्ष पर पक्षी बैठा गावे राग मल्हार ।
सूखा वृक्ष गया उड़ पंछी तज कर दम में प्यार ॥ १ ॥
ताल पाल पै डेरा कीना सारस नीर निहार ।
सूखा नीर ताल को तज गये उड़ गये पंख पसार ॥ २ ॥
बैल बढ़ों मालिक घर आवत तावत बाँधो द्वार ।
बृद्ध भयो तब नेह न कीनो दीनो तुरत बिसार ॥ ३ ॥
पुत्र कमाऊ सब घर चाहे पानी पीवे-वा भयो निखट्टू ।
दुर दुर पर पर होवत बारम्बार ॥ ४ ॥
जब तक स्वारथ सधे तभी तक बने फिरें हैं यार ।
स्वारथ साध बात नहिं पूछे सब बिछुड़े संग छार ॥ ५ ॥
स्वारथ तज निज गह परमारथ किया जगत उपकार ।
ज्योति ऐसे गुरुदेव के गुण चिंते बारम्बार ॥ ६ ॥
समझ मन स्वारथ का संसार ॥

भजन नं० ५

क्या तन धोवता रे आखिर माटीमें मिल जाना ॥ टेक ॥
माटी ओढ़न माटी बिछावन माटी का सिरहाना ।
माटी मिलकर बना कलेवर अंत माटी हो जाना ॥ १ ॥
चुन चुन लकड़ी महल बनावे चेतन कह घर मेरा ।
ना घर मेरा ना घर तेरा पंछी रैन बसेरा ॥ २ ॥

इतर लगाकर आभूषण पहिने होत मगन बहु तेरा ।
एक दिना ऐसा आवेगा होंगे मरघट में डेरे ॥ ३ ॥
पटिया काढ़ बाल सँवारे करै सैर हरियाली ।
एक दिन फोड़ी जायगी हो मरघट बीच कपाली ॥ ४ ॥
अन्त समय में काम न आवे रूप रंग शृंगार ।
प्रभु नाम का सुमिरन कर ले क्यों हो रहा गँवार ॥ ५ ॥
धन धरती और राज काज सब यहीं रहे खजाना ।
फिर इनके संचय करने में क्यों हो रहा दिवाना ॥ ६ ॥
मेरा मेरा कहता किनको कुटुम्ब पूत परिवारे ।
अन्त समय कोई साथ न देता फूंके मित्र तुम्हारे ॥ ७ ॥
एक मिनट का नहीं भरोसा क्यों करता अभिमाना ।
छिन में हँसता छिन में रोता छिनमें है शमशाना ॥ ८ ॥
अब भी समझ अरे तू चेतन नहीं भरोसा तन का ।
जैनी कहता अर्हंत भजकर मैल दूर कर मन का ॥ ९ ॥

भजन नं० ६

अरे मन आतम को पहचान, चाहे जो तू निज कल्यान ॥टेक॥
मिल जुल संग रहत पुद्गलके ज्यों तिल तेल मिलान ।
पर है आतम भिन्न पुद्गल से निश्चय नय परमान ॥ १ ॥
इन्द्रिय रहित अमूरत आतम ज्ञान मई गुण खान ।
अजर अमर अरु अलख लखैं नहीं आँख नाक मुख कान ॥ २ ॥
तन संबन्धी सुख दुख जाको करत लाभ नहिं हानि ।
रोग शोक नहीं व्यापत जाको हर्ष विषाद न आन ॥ ३ ॥

अन्तरात्मा भाव धार कर जो पावे निर्वान ।
ज्ञान दीप की ज्योति जगा लख आतम अमर सुजान ॥ ४ ॥

भजन नं० ७

परदा पड़ा है मोह का आता नजर नहीं ।
चेतन तेरा स्वरूप है तुझको खबर नहीं ॥ टेक ॥
चारों गती में मारा फिरे रात दिन ।
आपे में अपने आप को लखता मगर नहीं ॥ १ ॥
तज मन विकार धारतें अनुभव सुचेत हो ।
निज पर विचार देख जगत तेरा घर नहीं ॥ २ ॥
तू भव स्वरूप शिव, स्वरूप ब्रह्म रूप है ।
विषयों के सँग में तेरी होती कदर नहीं ॥ ३ ॥
चाहे तो कर्म काट कर परमात्मा बने ।
अफसोस इस पे तू कभी करता नजर नहीं ॥ ४ ॥
निज शक्ति को पहिचान समझ अब तो ।
न्यामत आलस में पड़े रहने होता गुजर नहीं ॥ ५ ॥

भजन नं० ८

पीछी वाले दर्शन दिखा......
दर्शन से तेरे बड़ा आनन्द मिला ॥
रह रह के आज मेरा हर्षित हो मन हो हर्षित हो मन
चरणों में तेरे लगी रहती लगन ॥ लगी ॥

गुरू जी आये आये सतसंग मिला ।

पार उतर जायें वह मंत्र सिखा ॥ पीछी० ॥

उपदेश से तेरे मेरा लागे है मन हो ॥ लागे० ॥

कर्मों का नहीं मुझे अब कोई गम, नहीं ॥ अब० ॥

अपने जैसा मुझको बना............

भव रोग छूटे वह औषध पिला ॥पीछी०॥

भजन नं० ९

जंगल में रहो या गुफाओं में

हम तुमसे मिलेंगे कहीं न कहीं ।

हम भक्त हैं तेरे 'देशभूषण'

तुझे ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं

अन्तरा—यू० पी० में रहो या सी० पी में

उत्तर में रहो या दक्षिण में ।

हम सेवक हैं तेरे चरणों के ॥

तुझे ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं ॥जंगल०॥

भारत रहो या विदेहन में ।

स्वर्गों या कुलाचल मेरन में ॥

तेरी शाँति छवि है दिलमें वसी,

तुझे ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं ॥जंगल०॥

मंदिर में रहो या शिवालय में

अकृत्तिम कृत्तिम चैत्यालय में

तेरा नक्शा रमा है हृदय में

तुझे ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं ॥जंगल०॥

कीर्तन नं० १०

जय देशभूषण, जय देशभूषण, जय देशभूषण देवा ।
मोता तेरी अक्का देवी, पिता सत्य देवा ॥जय०॥
कुंथलपुर में जन्म लिया है ओ देशभूषण देवा ।
फिरकहलाये आचार्य मुनिवर भक्तोंको सुखदेवा ॥जय॥
पाँचों पाप मिटाकर हमको, शरण देव गुरुदेवा ।
बाल ब्रह्मचारी हो मुनिवर, देव करें पद सेवा ॥जय॥
बाल यती थे बीस वर्ष के त्याग आप जब लेवा ।
पच्चीस वर्षतप करके फिर यू. पी. की सुधिलेवा ॥जय॥
चढ़ा सर्प था आपके ऊपर बने मेरू समदेवा ।
रमा कहे अब भवसागर से पोर करो गुरुदेवा ॥जय॥

आरती नं० ११

आरती करूँ आचार्य तुम्हारी, मुनिराज तुम्हारी,
ऐसे बाल यती तुम्हारी ।
विघन विनाशक शिव अधिकारी
बाल ब्रह्मचारी ऋषिराजा
जय, जय, जय श्री धर्म जिहाजा ॥आरती॥
सर्प मान खंडनकर डाला
सूली से एक जीव बचाया ॥आरती॥
पंचमकालमें अतिशय दिखलाया
ज्ञान भानु बन जग में आया ॥आरती॥

मात, पिता का मान बढ़ाया,

दीपक सम तुझसा सुत पाया ॥आरती॥

मोक्ष मार्ग के हो तुम नेता,

जय, जय, जय देशभूषण देवा ॥आरती॥

आज रमा की है प्रभु बारी,

काहे की अब देर लगाई ॥आरती॥

भजन नं० १२

बाराबङ्की में आये आचार्य श्री देश भूषण जी।
गुरुकुल अयोध्या खुलवाये ॥ टेक ॥
सबके मनमें दर्शनकी जो लगी हुई थी आशा।
अहो भाग्य बाराबङ्की का हुआ यहाँ चौमासा॥
बड़ेभाग्यसे दर्शन पाये आचार्य श्री देशभूषणजी ॥१॥
शाँत स्वरूपी महा तपस्वी आतम लीन नित रहते
व्रत उपवाससदा करते और कठिन परीषह सहते
शुभ कर्म हमारे आये आचार्य श्री देशभूषण जी ॥२॥
सोना चाँदी दुनियां की कोई वस्तु नहीं है प्यारी।
स्व अरु पर का भेद मिटाकर सब में समता धारी
राग द्वेष हटाये आचार्य श्री देश भूषण जी ॥३॥
मात पिता अरु भाई भतीजे सबको मान पराया
यह संसार असार जानकर तन से है ठुकराया

जग दुःख से हैं घवड़ाये आचार्य श्री देशभूषणजी ॥४॥
पैदल पैदल घूम घूमकर भारत देश जगाया
भूले भटके जीवों को भी सच्चे मार्ग लगाया
सतगुरु मन को पाये आचार्य श्री देशभूषणजी ॥५॥

भजन नं० (१३)

मुनिवर मुनिवर मैं पुकारू तेरे दर के सामने ।
दिल तो मेरा हर लिया श्री देश भूषण महाराज ने ॥
मोहनी छवि को दिखा दो ऐ मेरे मुनिवर मुझे ।
तेरी चरचा हम करेंगे हर बशर के सामने ॥ मुनिवर ॥
खोये हुये बालक को तुमने बुलाया था प्रभो ।
फांसी से रिहा कर दिया एक मुस्लिम बंधु आपने ॥
विषधर चढ़ा आपके ऊपर भयानक है प्रभो ।
निश्चल तुम ध्यानारूढ़ थे सब भक्तजन के सामने ॥
चित्त हम सब का रमा चरणों में नाथ आपके ।
कर जोड़कर देखा करें हम तेरे दर के सामने ॥

भजन नं० (१४)

देशभूषण 'अंधेरी अवध में, चांद बनकर आगया ।
सब के हृदय में नाथ अबतो, तू ही तू समागया ॥
वाणी ये मधुर प्रेम भरी नाथ है तेरी ।
चरणों पे तेरे तन, मन, धन, अर्पण ये सारा होगया ॥

देशभूषण जी दुखी थे नाथ हम सभी कर्मों की मार से ॥
इनसे छुड़ाने के लिये तू धर्मवीर आ गया ॥ देशभूषण ॥
अज्ञानी थे नाथ हम सभी, नहीं ज्ञान बोध था ॥
अब ज्ञान दान देने को तू दान वीर आगया ॥ देशभूषण ॥
उजड़ा चमन था धर्मका मुरझाई भक्ति थी ।
उजड़े चमन में नाथ तू, मधु मास बनकर आगया ।
देशभूषण अन्धेरी अवध, में चांद बनकर आगया ॥

भजन नं० १५

तेरे पूजन को ये मुनिवर पुजारिन बन के आई हूँ ।
बनाकर अष्ट कर्मों का अरघ चरणों में लाई हूं ॥
नहीं फल फूल आदि हैं, चढ़ाऊं चरणों में क्या तेरे ।
जला दुख क्लेश का दीपक तेरे चरणों में लाई हूं ॥
नहीं कुछ दान दक्षिणा है, रही भक्ती अधूरी है ।
रहा बश शेष ये जीवन तेरे चरणों में लाई हूं ॥ तेरे० ॥
बहुत दुख है रमा दिल में कि कुछ सेवा न बन पाई ।
फकत कर जोड़कर मुनिवर तेरे चरणों में आई हूँ ॥

भजन नं० १६

पुजारी हृदय के पट खोल ॥ टेक ॥
कोई गावे कोई रोवे, उससे तू मन बोल ॥
तू न किसी का कोई न तेरा, नाहक करता मेरा मेरा ।
तुझे पड़ी है क्या दुनियाँ की, मत रस में विष घोल ॥ १ ॥

तेरी सूरत सुन्दर प्यारी, उसकी विमल छटा है न्यारी।
इधर उधर क्यों फिरे भटकता, व्यर्थ बजावत ढोल ॥ २ ॥
तेरे घट में है परमातम, बनो मूढ़ मत भोले आतम ।
तेरे घट में छुपा हुआ है, तेरा रत्न अमोल ॥ ३ ॥
ज्ञान दीप से तिमिर हटादे, आतम ज्योति को जगादे ।
भक्ति तुला के मन के मन से मन के मन को तौल ॥ ४ ॥

भजन नं० १७

मुनि संघ तुझे हम नमन करे, भव दुख जलधि से तारो हमें ।
निष्कारण बँधु तुम्ही जग के, करि कृपा पधारि सुधार हमें ॥
बहुतों को तार दिया तुमने, अब आकर श्री गुरु तारो हमें ।
थी आश सुखद शुभ दर्शन की, लखि नेत्र तृप्ति भये आज तुम्हें ॥
तेरे पग पड़ गये जहाँ जहाँ पर, सब सुधरि गये भव वहाँ २ ।
तप तेज देख मुनिवर तुमको, सब जीव भक्त वश होय नमें ॥
है आग मोक्त आचरण सभी, जिनमें नहिं आता दोष कभी ।
सद्गुरु थानक मुनि संघ तुझे, कर जोर होय नतभाल नमें ॥
जिसने तुमको इक देख लिया, उसने अपना कल्याण किया ।
अब कुंजदास तुम चरण नमें, चहै मुक्ति दो नाथ हमें ॥

भजन नं०. १८

आतम रूप अनुपम अद्भुत, याहि लखे भव सिन्धु तरो ॥
अलपकाल में भरत चक्रधर, निज आतम को ध्यान खरो ।
केवल ज्ञान पाय भवि बोधे, ततछिन पायो लोक शिरो ॥

या बिन समझे द्रव्य लिंग मुनि, उग्र तपन कर भार भरयो ।
नवग्रीवक पर्यंत जाय चिर, फेर भवार्णवि माँहि परो ॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरन तप, ये ही जगत में सार सरो ।
पूरव शिव को गये जाँहि अब, फिर जैहैं यह नियत करो ॥
कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवानी उचरो ।
दौल ध्यान अपने आतम को, मुक्ति रमा तब वेग वरो ॥

भजन नं० १९

मेरे कब हुई है वा दिन की सु घरी ॥ टेक ॥
तन विन वसन असन विन वन में ।
निवसौं नासा दृष्टि धरी ॥ १ ॥
पुण्य पाप पर सो कब विरचौं ।
परचौं निज निध चिरु विसरी ॥
तज उपाधि सजि सहज समाधि ।
सहो घाम हित मेघ झरी ॥ २ ॥
कब थिर जोग धरो ऐसो मोहि ।
उपल जान मृग खाज हरी ॥
ध्यान कमान तान अनुभव सर ।
छेदों का दिन मोह अरी ॥ ३ ॥
कब तृण कंचन एक गनो अरु ।
मणि जड़ितालय शैल दरी ॥
दौलत सतगुरु चरनन सेऊँ ।
जो पुरवो आस यहै हमरी ॥ ४ ॥

भजन नं० (२०)

कवधो मिले मोहि श्री गुरु मुनिवर करहिं भवोदधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीनो छाँड़ि परिग्रह भारा हो ॥
इन्द्रिय दमन वमन मद कीनो विषय कषाय निवारा हो ॥ १ ॥
कँचन काँच बराबर जाके निंदक वंदक सारा हो ।
दुद्धर तप तप सम्यक् निजधर मन वच तन कर धाराहो ॥ २ ॥
ग्रीषम गिर हिम सरिता तारे पावस तरु तर टारा हो ।
करुणा भीन चीन त्रस थावर ईर्या पथ संभारा हो ॥ ३ ॥
मार मार व्रत धार शील दृढ़ मोह महा मन टारा हो ।
मास छः मास उपास वासवन प्रासुक करत आहारा हो ॥ ४ ॥
आरत रौद्र लेश नहि जिनके धर्म शुकल चित धारा हो ।
ध्यान रूढ़ गूढ़ निज आतम शुद्ध उपयोग विचारा हो ॥ ३ ॥
आप तरहिं औरन को तारो भव जल सिंधु अपारा हो ।
दौलत ऐसे जैन जती को. निन प्रति धोक हमारा हो ॥ ६ ॥

भजन नं० २१

दुविधा कव जैहे या मन की ॥ टेक ॥
कव निज नाथ निरन्जन सुमरो तज सेवा जन जन की ॥ १ ॥
कव रुचि सो पीवे दृग चातक बूँद अखय पद धन की ।
कव शुभ ध्यान धरो समता गहि करूँ न ममता तनकी ॥ २ ॥
कव घट अन्तर रहे निरन्तर दिढ़ता सुगुरु वचन की ।
कव सुख लहो भेद परमारथ, मिटे धारना धन की ॥ ३ ॥

कब घर छाँड़ि होहु एकाकी लिये लालसा वन की ।
ऐसी दशा होय कब मेरी हौ बलि बलि वा छिन की ॥ ४ ॥

भजन नं० २२

कब निर्ग्रंथ स्वरूप धरूँगा तप करके मुकति को वरूँगा । टेक ।
कब ग्रह वास आस सब छाड़ू कब वन में विचरूँगा ।
वाह्याभ्यंतर त्याग परिग्रह उभय लिंग सुधरूँगा ॥ १ ॥
होय एकाकी परम उदासी पंचाचार चरूँगा ।
कब थिर जोग धरूँ पद्मासन इन्द्रिय दमन करूँगा ॥ २ ॥
आतम ध्यान सजो दल अपनो मोह अरी से लरूँगा ।
त्याग उपाधि समाधि लगा कर परिषह सो न डरूँगा ॥ ३ ॥
कब गुण ठान श्रेणी पर चढ़कर कर्म कलंक हरूँगा ।
आनन्द कंद चिदानन्द साहेब विन सुमरे सुमरूँगा ॥ ४ ॥
ऐसी लब्धी मैं कब पाऊँ आप आप ही आप तरूँगा ।
अमोलक सुत हीराचन्द कहत है बहुरि न जग में रुलूँगा ॥ ५ ॥

भजन नं० २३

आज तो वधाई राज नाभि के दरबार जी ॥ टेक ॥
मरुदेवी ने बेटा जायो श्री जिन रिषभ कुमार जी ।
अवधपुरी में जन्म लियो है घर घर मँगलाचार जी ॥ १ ॥
घननन घननन घंटाबाजे देव करें जयजय कार जी ।
इन्द्राणी मिल मंगल गावे भरि मोतियन के थार जी ॥ २ ॥

हाथी दीने घोड़ा दीने दीने रतन भँडार जी ।
देश नगर पुर पट्टन दीने दीने सब शृंगार जी ॥ ३ ॥
तीन लोक के जिन जी प्रकटे हो रही जय जय कार जी ।
रूपचन्द को केवल कमला उपजै आदि कुमार जी ॥ ४ ॥

भजन नं० २४

सफल भई मोरी आज नगरिया,
आज नगरिया मोरी आज नगरिया ॥ टेक ॥
दर्श देख मोरे नयन सफल भये,
चरण परस मोरी सिर की पगरिया ॥ १ ॥
पार्श्व प्रभु को न्हवन करन को,
भरि भरि लाऊँ छोरो दधि की गगरिया ॥ २ ॥
बहुत दिनन ते भटकत भटकत
अब पाई शिव पुर की डगरिया ॥ ३ ॥
नैन सुख प्रभु के गुण गावैं,
मेटो प्रभु भव भव की झगरिया ॥ ४ ॥

भजन नं० २५

जगत गुरु कब निज आतम ध्याऊँ ॥ टेक ॥
नग्न दिगम्बर मुद्रा धरिके कब निज आतम ध्याऊँ ।
ऐसी लब्धि होय कब मोकू हो वा छिन को पाऊँ ॥ १ ॥
कब घर त्याग होऊ बनवासी परम पुरुष लो लाऊँ ।
रहूँ अडोल जोड़ पदमासन करम कलंक खपाऊँ ॥ जगत ॥ २ ॥

केवल ज्ञान प्रगट कर अपनो लोका लोक लखाऊँ ।
जन्म जरा दुःख देय जलांजलि हों कब सिध कहाऊँ ॥ ३ ॥
सुख अनंत बिलसों तिह थानक काल अनंत गमाऊँ ।
मानसिंह महिमा निज प्रगटै फेर न भव विपन भ्रमाऊँ ॥
जगत गुरु कब निज आतम ध्याऊँ ॥

भजन नं० २६

ऊँचे महल मकान झोपड़ी बाग बगीचा फुव्वारा ॥
खड़े रहेंगे मंदिर मशजिद खड़ा रहेगा गुरुद्वारा,
यश ले ले चाहे अपयश ले ले साथ यही जाने वाला ।
मौका नहीं मिलेगा फिर जब लाद चलेगा वंजारा ॥ १ ॥
प्यारी माँ प्यारी घर वाली प्यारे पुत्र पिया प्यारा,
दूर खड़े हो जाँयगे सुन सभी कूँच का नक्कारा ।
चौखट तक बाजार तक कोई और चिता की लपटों तक,
आखिर सबसे तुड़ा छुड़ाकर लाद चलेगा वंजारा ॥ २ ॥
रहे न शाहंशाह सिकन्दर रहे नहीं खिलजी दारा,
उधर बढ़ाते रहे खजाना इधर हो गया बँटवारा ।
पीटे पैर रहम की माँगी भीख बहा अपने आँसू,
किन्तु पसीजा नहीं हृदय में लाद चला जब वंजारा ॥ ३ ॥

दोहा—जैसे होवे वैसे भाई दूर हटा जग का अज्ञान ।
कर प्रकाश करदे विनाश तम फैला दे शुचि सच्चा ज्ञान ॥

भजन नं० २७

अज्ञानी पाप धतूरा न बोय

श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज

द्वारा

कन्नडी भाषा से हिंदी तथा अँग्रेजी भाषा में अनुवाद की हुई
पुस्तकें प्रकाशित हो गईः—

भरतेश वैभव प्रथम भाग (भोगविजय) का [illegible] खंड
" " द्वितीय " (दिग्विजय) का [illegible]
शेष खंड (प्रेस में)

निर्वाण मोक्ष लक्ष्मी पति आध्यात्मिक ग्रन्थ
गुरु शिष्य संवाद आध्यात्मिक चर्चा
विश्व शांति और अहिंसा (अप्राप्य)

मिलने का पता—
जैन पंचानन ग्रन्थ माला [illegible]
जि० [illegible]

यसोनाचार्य कृत धर्मामृत हिंदी का अनुवाद [illegible]
रत्नाकर शतक पहला खंड
" " दूसरा खंड